* ओ३म् *

ईशोपनिषद् का स्वरूप

अर्थात्

ऋषि दयानन्द प्रतिपादित

अर्थों के अनुमोदक व्याख्यान.

लेखक

पं० प्रियरत्नजी विद्यार्थी

प्रकाशक

चौधरी श्रीचन्द्र, प्रबन्धकर्त्ता महेश-पुस्तकालय,

घसेटीबाज़ार, अजमेर.

मुद्रक

वैदिक-यन्त्रालय, अजमेर.

प्रथमावृत्ति १५०० } संवत् १९८० सन् १९२३ { मूल्य ।=)

॥ ओ३म् ॥

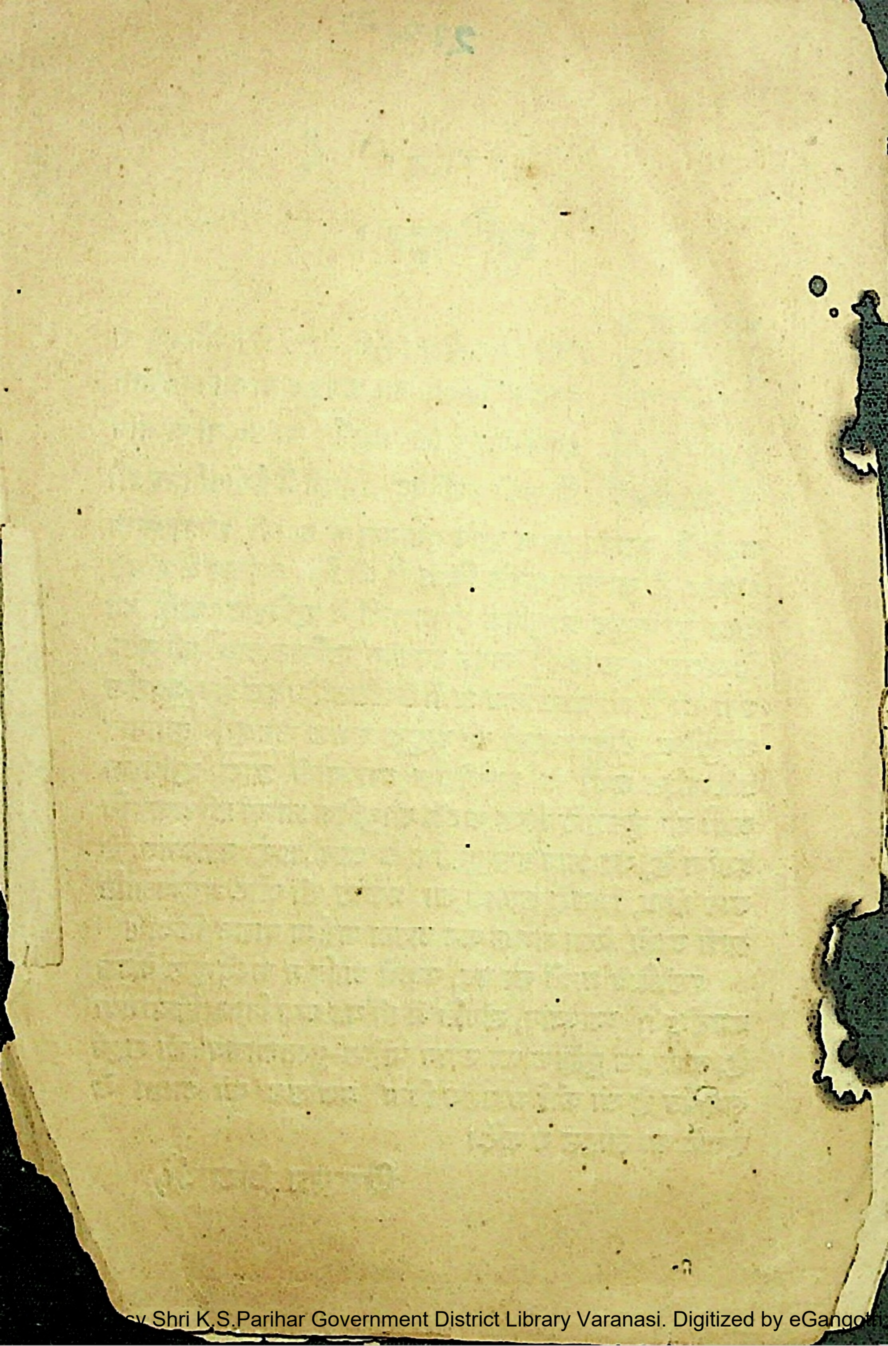
भूमिका ।



प्रिय स्वाध्यायशील ! मुझे "इस ईशोपनिषद् का स्वरूप" लिखने का अवसर या आवश्यकता इसलिये हुई कि यजुर्वेद का ४० वां अध्याय जिसको उपनिषद्-प्रणाली में ईशोपनिषद भी कहते हैं, उसका भाष्य ऋषि दयानन्द ने अपनी मन्त्रद्रष्टृत्व अवस्था से साक्षात् करके किया है जो कि पूर्णरूप से संगत होता है, प्रत्युत आधुनिक टीकाकारों ने ऋषिकृत अर्थों का तिरस्कार (खण्डन) करके स्वकीय कल्पित अर्थों की स्थापना की है जो वास्तविक अर्थों से पतित है। इस दोष-प्रदर्शक आधुनिक टीकाप्रणाली को अयुक्त समझ कर ऋषि दयानन्द प्रतिपादित अर्थों के अनुमोदक व्याख्यानों द्वारा ऋषिकृत अर्थों की सुसङ्गति सिद्ध करके आधुनिक भाष्यों की असङ्गति दर्शाना है, यह भाव इस पुस्तक के आद्योपान्त स्वाध्याय से ज्ञात होगा, जिससे सत्यार्थ का प्रकाश हो और मनुष्यजाति लाभ उठावे, ऐसा समझ कर अपना कर्तव्य पालन किया ॥

इसीलिये मन्त्रों का पद, पदार्थ आदि न करते हुए केवल क्रमशोऽर्थ, व्याख्यान, संगति में ही यह ग्रन्थ निबद्ध किया गया है, तथा इस पुस्तक का स्वत्व 'महेश-पुस्तकालय' को सहर्ष समर्पित है सो कोई महाशय विना प्रकाशक की आज्ञा के छपाने का साहस न करें।

प्रियरत्न विद्यार्थी,



दिस नदी के बीच में जब कि दयानन्द मृत्यु के मुख में जाने के समीप था तो उसने भी वहां सम्बोधन किया कि "रे दयानन्द ! क्या इस ही मौत मरने को घर से निकला था? सम्भल नहीं तो तेरा पता न पायेगा, ठीक ऐसा ही स्वरूप इस मन्त्र में भी है॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समूह । तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

क्रमशोऽर्थः—हे पूषन् जीवात्मन् ! तू एकर्षि स्वतन्त्र गति करने वाला है और (यम) सब इन्द्रियों का वश करने वाला सूर्य्य है अर्थात् जैसे सूर्य्य से किरणें निकल कर इस सृष्टि को प्रकाश करने वाली हैं, ठीक वैसे ही जीव भी वृत्तियों रूप किरणों से इन्द्रियादि संघात तथा वासनाओं को प्रकाशित करता है, प्रजापति परमेश्वर का पुत्र है तू अपनी फैलाने वाली वृत्ति रूप किरणों को इकट्ठा कर । तेज जो तेरा अत्यन्त कल्याण रूप है उसको मैं देखूं जो वह अमुक पुरुष स्वरूप है सो मैं हूं ॥

व्याख्यानः—जिस प्रकार निगृहीत पुरुष बन्दीघर में क्लेश पाता हुआ अपने स्वतन्त्र स्वरूप की प्राप्ति के लिये अपने को सम्बोधन करता है और कहता है कि जब इस बन्धन से छूटकर मैं अपने आपको देखूं तो फिर मैं स्वतन्त्रता को अनुभव करके समझूं कि वह अमुक पुरुष अब हूं मैं, ठीक वह ही स्वरूप इस मन्त्र में है ॥

सङ्गतिः—पूर्व मन्त्र में इच्छामात्र थी कि इस बाधक को हटादे और इस मन्त्र में अपनी शक्तियों का स्मरण करता हुआ बन्धन से छूटने की चेष्टा करता है ॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७॥

क्रमशोऽर्थः—(वायु) बाह्य वायु (अनिलम्) आन्तरिक वायु अर्थात् प्राणशक्ति को 'धारण करता है' और वह (अमृतम्) नित्यस्वरूपक जीव को (अथ) इसके अनन्तर=ऐसा संगठन न रहने पर (भस्मान्तम्) भस्म होजाना है अन्त में जिसका ऐसा यह (शरीरम्) शरीर है। इसलिये इस अन्तसमय को लक्ष्य में रखते हुए हे जीव "ओ३म्" को स्मरण कर, अपनी सामर्थ्य के लिये स्मर और किये हुए को स्मरण कर ॥

व्याख्यान और सङ्गतिः—पूर्व मन्त्र में जीव अपनी शक्तियों का विचार करता था और इस मन्त्र में वैराग्य-परक वचनों से अपने शारीरिक सम्बन्ध तथा शरीर स्वरूप का विचार करते हुए व्यतीत का पश्चात्ताप रूप से स्मरण करना और आगामी सामर्थ्य रूप को स्मरण करना तथा वर्तमान में ओंकार का स्मरण करना यथोचित उपाय का वर्णन है॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

क्रमशोऽर्थः—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! ले चल अच्छे मार्ग से कल्याण के लिये हम को, सम्पूर्ण 'हे देव' श्रेष्ठ ज्ञानों को जानते हुए पृथक् करदे हम से कुटिल पाप को, बहुत प्रकार की तेरे लिये सत्कार की वाणियें सेवा में लाते हैं।





व्याख्यान और सङ्गतिः—पूर्वोक्त अभीष्ट प्रयोजन के लिये इस मन्त्र में प्रार्थना है कि भगवन् कृपा करके हमको ऐसे बनाओ अर्थात् हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप सब लोक और लोकस्थ प्राणी आदि को जाननेवाले हो, अतः श्रेयः (कल्याण) के लिये हमको सुगम मार्ग से ले चल और जो हमारे में अयोग्यता है उसको दूर करदे, हम तेरे लिये अपने अन्तरात्मा से उल्लास भरे भावों में सत्कार करें। इति ॥

यह ईशोपनिषद् का स्वरूप जो ३॥ (साढ़े तीन) व्याख्यानों में है, ऋषि दयानन्द के भाष्य से ही मिल सक्ता है, अन्यथा इसका स्वरूप न ज्ञात होसकेगा। अतः ऋषियों के अनुचर होना शुभ कृत्य है। ओ३म् शम् ॥

चैत्र शुक्ला २
सं० १९८० विक्रम



वैदिकधर्म का सेवक—
प्रियरत्न विद्यार्थी,



विज्ञापन ।

हमारे यहां से उत्तमोत्तम पुस्तकें निकलती हैं, स्थायी ग्राहकों को तमाम पुस्तकें पौने मूल्य में दी जाती हैं, जिसकी प्रवेश फीस ॥) आने हैं, जो पहले जमा कराने पड़ते हैं, अब-तक निम्न ग्रन्थ छप चुके हैं:—

(१) कालेज होस्टल (विद्यार्थीजीवन की लीला) मू० ।)
(२) विद्यार्थी विनोद (हास्यरसपूर्ण गल्पें) मू० ।-)
(३) जोगी की फेरी (एक मनोरंजक उपन्यास) मू० ।)
(४) आर्य्यसमाज और असहयोग (स्वतः प्रकट है) मू० -)
(५) असहयोग अर्थात् तर्कमवालाल मू० ।)
(६) माडरेटों की पोल (असहयोग पर लगाये आक्षेपों का उत्तर तथा स्वराज्य के लाभ) मू० ।)
(७) ज्ञानसंचय-विचार (नाम ही से प्रकट है) मू० =)
(८) ब्रह्मयज्ञ-विधान (सन्ध्या करने की विधि) मू० -)
(९) पुष्करराज—दर्शन (तीर्थगुरु श्री पुष्करराजजी का वर्णन) मू०)॥
(१०) धर्मशिक्षा (बालकों की धर्मशिक्षा के लिये पहिली पुस्तक) मू०)॥
(११) ईशोपनिषद् का स्वरूप (आपके हाथ ही में है) मू० ।=)

सूचना—इसके अलावा और भी पुस्तकें प्रकाशित होने वाली हैं। जो सज्जन स्थायी ग्राहक बनना चाहें, वे प्रवेश फीस जमा कराकर अपना नाम ग्राहक-श्रेणी में लिखावें।

निवेदक—

चौधरी, श्रीचन्द्र

संचालक—महेश पुस्तकालय,

घसेटीबाज़ार, अजमेर.

* ओ३म् *

ईशोपनिषद् का स्वरूप

(ईश्वर की व्याप्ति का डंका)

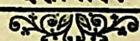
ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥

क्रमशोऽर्थः—ईश्वर से 'वास्य'–व्याप्य यह सब जो कुछ सृष्टि में (रचनागत) रचा हुआ है। तिससे त्याग से भोग कर मत 'चाह' इच्छा में ला किसी के 'धन' भोग्य वस्तु को॥

व्याख्यान—इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ईश्वर की सत्ता और जगत् तथा इन दोनों का नियम्य–नियन्ता, स्व–स्वामी, व्याप्य-व्यापक, कार्य्य–कर्ता सम्बन्ध को दर्शाया है जो 'ईशावास्यं जगत्यां जगत्' इन शब्दों के विचार से प्रकट है और उत्तरार्द्ध में जीव भोक्ता, जगत् पदार्थ भोग्य तथा जीव को भोग करने की विधि का उपदेश है अर्थात् सृष्टि में जो कुछ रचा हुआ है यह सब स्वामी रूप परमात्मा से वास्य = व्याप्य है, जैसे फूलों में गन्ध वसी रहती है जो फूल के भीतर और बाहिर विराजमान है, ठीक ऐसे ही परमात्मा इस सृष्टि के प्रत्येक भाग में अणु, परमाणु पर्य्यन्त तथा बाहिर भी विराजमान है, अथवा जैसे जलाशय में कोई वस्त्रादिक जल से



भीगा हुआ होने पर जल वस्त्रादिक के भीतर और बाहिर बसा हुआ है केवल भेद इतना है कि गन्ध वायु का और जल पार्थिव स्थान का आश्रय भी लिये हुए है, परमात्मा अपनी सत्ता से ही निरपेक्ष विराजता है। वस्तुत: यह जगत् ही उसके अधिकार में आश्रय लिये हुए उस पोषक का पोष्य बना हुआ है जो कि इसका नियन्ता और कर्ता है। जब कि ईश्वर की व्यापकता इतनी विस्तृत है कि जिसको कोई भी पार नहीं कर सक्ता तो फिर जीव एकदेशी अल्पसामर्थ्य वाला भय करता हुआ भोग करे अर्थात् भोग का निषेध नहीं परन्तु विधि से त्याग करके भोग करे, त्याग का अर्थ ऋषि दयानन्द करते हैं कि (वर्जितेन, तच्चित्तरहितेन) जिनके अर्थ लोकप्रसिद्ध भी हैं, कि अपने अधिकृत पदार्थ को 'वर्जन' छोड़ कर दूसरे को दे देना, तथा सब कुछ ऐश्वर्य्य होते हुए भी उसमें लिप्त न होते हुए भोग करना ये दोनों अर्थ वेद को इष्ट हैं। इससे जीव को उपदेश है कि इन दोनों का जहां तू ने सेवन न करते हुए भोग किया वह तेरा भोग्य नहीं वह किसी और का है उसको मन से भी मत चाह, क्योंकि अलिप्त और कुछ अपने पास से विद्या, धर्मशिक्षा आदि का त्याग कर के भोग कर, यदि इस प्रतिकाररूप त्याग और भोग दोनों की अल्पता या अभावता इष्ट है तो दोष नहीं, वन पर्वतों में जा योगाभ्यास कर क्योंकि इसमें कोई अपकृति नहीं है। यहां पर मन्त्र के पूर्वार्द्ध में ईश्वर और उसकी व्यापकता और जगत् का वर्णन करके तथा उत्तरार्द्ध में जीव और उसको भोग की विधि का उपदेश तथा भोग्य जगत् का कथन होकर अप्रसङ्ग और क्रमभङ्ग सा प्रतीत होता है, परन्तु ऐसा नहीं है प्रत्युत जीव को परम स्वामी जगदीश परमात्मा की विराज-

ज्ञनता को दर्शाते हुए जगत् पदार्थों का भोग डरकर धर्म से करने का उपदेश दिया है, जैसे कोई वृद्ध किसी बालक को सुन्दर उद्यान में सैर करने को छोड़ गया हो और साथ में यह भी उपदेश दे गया हो कि बालक देख तेरे सामने स्थान २ पर ये नङ्गी तलवारें लिये हुए विराज रहे हैं, जो इनके स्वामी और संस्थापक हैं, इसलिये तू दर्शनमात्र से सैर करना, इनके फल फूल पर हाथ मत डालना। इस उदाहरण में यह भाव है कि रे बालक हाथ डालना रूप पाप किया तो ये संस्थापक स्वामीजन तुझे यथापराध दण्ड ही देंगे, अतः संभल कर सैर कर और आनन्द ले, ठीक इस ही प्रसंग को मन्त्र में दर्शाया है कि रे मनुष्य संभल कर डरता हुआ संसार में भोग कर, नहीं तो दण्डरूप दुःख का भागी होगा तथा इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध की व्याप्ति मनसापरिक्रमा के मन्त्रों में भास रही है वस्तुगत्या जब कोई मननशील पूर्ण विचार करे तो ठीक इस मन्त्रवर्णित व्याप्ति का चमत्कार उसको होजावे और ब्रह्मयज्ञ परमात्मदेव की सङ्गति स्वाभाविक रूप में प्राप्त हो, निम्न दृष्टान्त इस व्याख्यान की पूर्ति में है।

दृष्टान्त—मानो एक आठ (८) वर्ष का ब्राह्मणबालक, जिसके कुल में परम्परा से वेदाध्ययन, धर्मानुष्ठान चला आ रहा है, पिता की शिक्षा में वर्तमान है, नियमानुसार भोजन-वेला में भोजन, उपासना के समय उपासना, अध्ययन काल में अध्ययन और खेल के समय में खेलता है, खेल के समय प्रति-दिन उसका पिता खिलौना बनाने वाले कुलाल के यहां जाकर खिलौना लेदिया करता है, बहुधा कुलाल को खिलौना बनाते देखकर बालक में कार्य्य-कर्त्ता सम्बन्ध रूप बुद्धि की उपस्थिति होजाती है, एकदा पिता स्वयं संग न गया खेल का मूल्य देकर

कह दिया कि जाओ अब तुम स्वयं लेआओ, तब वह बालक कुलाल तक न पहुंच कर एक अनार विक्रेता से नवीन खेल समझ मूल्य देकर ले आया, कुछ देर उसकी रचना पर ध्यान देता रहा, उसके पिता ने अनार को तोड़ दिया, वह बालक और भी आश्चर्य्य में होकर देखने लगा इसमें तो कहीं ऊपर जोड़ नहीं था यह दाने से भीतर किसने और कैसे भरे होंगे! जब एक दाना उठाकर ध्यान से देखता है तो उस दाने के बीच के भाग में कुछ और गुठली सी दिखलाई पड़ती है, दाने के रंग और भीतर की गुठली ने उसको अचम्भे में कर दिया, जब वह इस ही मीमांसा में दाने को चुटकी से पकड़ कर दबाता है तो एक साथ दाने का जल उत्स्राव (फव्वारे) के समान उछल इतस्ततः जा पड़ता है और गुठली, महीन झिल्ली चुटकी में रह जाती है। इस ऐसे मनोहर कृत्य (तमाशे) को देखकर उसकी मीमांसा बढ़ जाती है, फिर एक दाने को उठा कर सूई से छिद्र करता है कि इसका जल बाहिर आवे परन्तु वह दैविक संघटन का जल कैसे बाहिर आता तथा गुठली का मध्य में दृढ़ रूप दिखलाई पड़ना यह सब कुछ बालक को चकित करदेता है। तत्काल ही बालक अनार वाले के पास चला जाता है और पूछता है कि रे यह खेल तूने कैसे बनाया! अनार-विक्रेता कहता है कि मैंने नहीं बनाया यह तो मैं एक उद्यान के माली से मूल्य देकर लाया हूं, बालक कहता है कि चल मुझ को वहां ले चल, तब वह उद्यान (बाग़) में लेजाकर माली के सन्मुख कर देता है, माली उसके भाव को समझ अनारमाला क्यारी में लेजाकर खड़ा करदेता है। तदनन्तर बालक कहता है कि रे माली! इस रंगबिरंगी लीला को कौन बना रहा है, माली कहता है कि रे बालक जिसने तेरे शरीर

में आंख, नाक, हाथ, पैर, नख, नाड़ी, चमड़ी, रोमादि बनाये हैं, तब बालक चुप होजाता है और गहन विचार में व्याकुल सा होता हुआ जङ्गल में दूर किसी नदी के किनारे जा पहुंचता है, श्रान्त और व्याकुल तो था ही स्नानादि के लिये इच्छा हुई, स्नान करके बैठ गया और उसही मीमांसा में चित्त ग्रस्त है, इच्छा हुई कि कुछ कण्ठ के नीचे तक जल पहुंचे। चित्त की शान्ति के लिये अल्प जल का आस्वादन किया, उस विचार में था ही सोचा कि कदाचित् आलस्य न आ घेरे, अतः कुछ जल अङ्गों पर लगाया और छिड़का। जब ऐसे कुछ शान्ति हुई तो शान्ति के भाव से दो तीन लम्बे श्वास बल से बाहिर आकर स्थिर से होते रहे। तदनन्तर चित्त में कुछ स्थिरता और शान्ति आई। सायं का समय था, सन्मुख सूर्य्य अस्त होता हुआ दिखलाई पड़ा, विचार में आया कि यह वह ही पदार्थ है कि जिसको प्रातः पूर्व दिशा में देखा था तथा ऊपर का चित्र चन्द्र तारागणरूप अद्भुत प्रसन्न दीपमाला के समान इस सन्धि-वेला में दिन रात्रि की इस लीला ने बालक को चकित करते हुए यह निश्चय कराया कि अनार की अद्भुत रचना, शरी-राङ्गों का विचित्र निर्माण, अहर्निश की प्रसन्न ज्योतिमाला-रूप व्यूह, इत्यादि इस सारी मनोहर लीला को कुलालादि शरीरधारी से भिन्न कोई महान् पुरुष अनन्त गुण बल क्रिया वाला शक्तिशाली प्रकाशित और धारित करता है। तथा जैसे कि यह सूर्य्य प्रातः उदय होकर दिन बनाता और अस्त होकर रात्रि करता हुआ एक चक्र में दिखलाई पड़ता है तथैव यह समूहरूप जगत् भी किसी बड़े दिन रात्रि के चक्र में होगा और क्रमशः इसकी उत्पत्ति उस महान् पुरुष ने कुलाल के समान की है सूर्य्य के समान ज्यों का त्यों वारम्वार यह सब

जगत् प्रकट होता रहता है यह निश्चय मैं करता हूं धन्य ऐसे उस देव को जिसने दया करके यह सब हमारा उपकार किया है। हम भी दूसरों पर दया लाकर उपकार करेंगे, पापों का नाश करना मुख्य समझेंगे ।

ब्रिम्ब तो सूर्य्यादि का बाहिर भीतर बसा हुआ था ही तिससे पुनः भावों का विकास होता है कि जब सूर्य्यादि गोलाकार दिखलाई देते हैं और इनके चारों ओर आकाश है तो यह पृथिवी जिस पर मैं हूं गोलाकार ही है, क्योंकि इसके ऊपर और चारों ओर आकाश है और पृथिवी की गोलाई धनुष् (कमान) सा स्वरूप मेरे सामने भी है इससे जो ऊपर आकाश और नक्षत्रों का होना है यह नीचे भी अवश्य है। जब इतने अनन्त लोक लोकान्तर हैं तो वह उनका निर्माता महान् पुरुष मेरे सामने की दिशा में बहुत दूर तक है जिसका मैं मनोवृत्ति से पार नहीं पासकता वह तो इधर असीम अनन्त है। तथा दक्षिण ओर की लीला भी मनोवृत्ति को अपनी ओर खींचकर दक्षिण दिशासम्बन्धि अनन्त असीम ब्रह्मदेव, नियन्ता का बोध कराती है। एवं पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर छहों दिशाओं में अनन्त ब्रह्मदेव का स्मरण करते हुए भावना होती है कि ऐसा स्वामी मेरे भीतर भी तो अवश्य होगा। ज्योंही मनोवृत्ति भीतर अन्तर्मुख करके हृदय देश में लेगया त्योंही अगाध अनन्त आनन्द में अपने स्वरूप को स्थिर कर प्रसन्न, शान्त और आनन्दित हुआ और चिरतक ब्रह्म में उपस्थान रक्खा अनेकानेक सहयोगादि के लिये प्रार्थना करता हुआ दूसरों के तथा अपने उपकार के लिये मुख्योपदेश ले प्रेम, श्रद्धा और अन्तःकरण से नमस्कार करता हुआ संसार स्वरूप में आया, इस समय बालक शान्त

प्रसन्नचित्त और संशयरहित बैठा है, अपने पिता की उपदिष्ट दैनिक सन्ध्या का स्मरण आता है कि नित्यकर्म तो करलूं, ऐसा विचार कर एक दोही क्रिया सन्ध्या की की थी, तो ध्यान आया कि मैं तो वस्तुतः बड़ी भूल में हूं ऐसी सन्ध्या तो मैं करचुका हूं, यदि मुझे ज्ञात होता कि यह मेरे पिता की सिखलाई सन्ध्या में इतना गौरव है कि जिसके अङ्ग प्रत्यङ्ग अर्थात् (आचमन, स्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण, मनसापरिक्रमा, उपस्थान, गुरुमन्त्र, नमस्कार) पूर्वकृत सन्ध्या के हैं, तो मैं इतना दुःख क्यों पाता और घूमता, पिता की शरण न छोड़ता इतना गौरव इस पैतृक सम्पत्ति में है, मुझे न ज्ञात था अच्छा अब तो पिता की शरण लेता हूं तत्काल ही प्रसन्न वदन पिता के पास आता है। पिता कहता है कि रे पुत्र ! तू तो ब्रह्मवित् सा प्रतीत होता है, तुझे किसने उपदेश दिया है? बालक कहता है कि पिताजी ! अनार सूर्य्यादि प्राकृतिक पदार्थों ने मुझे उपदेश दिया है, ऐसा सविस्तार वर्णन किया तब पिता ने प्रसन्न हो अन्य रहस्यों का भी उपदेश दिया ॥

इस ही प्रकार के आलङ्कारिक रूप में प्राकृतिक पदार्थों से उपदेश ग्रहण करना उपनिषदों में आता है। इस उपरोक्त दृष्टान्त से ईश्वरव्याप्ति की सङ्गति की गई है, ठीक मनुष्य धर्म से मननशील होकर बहुत कुछ उन्नति के उच्चशिखर पर चढ़ जाता है ॥



कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

क्रमशोऽर्थः—करता हुआ ही कर्मों को जीनेकी इच्छा कर सौ वर्ष तक। ऐसे "तुझ में" नहीं अतिरिक्त इससे (कर्तव्य) है न कर्म लिप्त होता है "पुरुष में"।

व्याख्यान—(एवं) शब्द मूल में अवधारणार्थ आया है, जो कर्मों को निष्कामता में करना बोधन कराता है अर्थात् कर्म करता हुआ रुके मत, कभी कर्म करके उसके फल को शोच में चित्त को चलायमान और दुःखित मत कर प्रत्युत कर्म करता हुआ चला जा, स्वतः फल अवश्य ही होगा और कर्म हों वेदोक्त जो अपने और दूसरों का कल्याण करें (कर्माणि) शब्द के साथ वेदोक्त विशेषण इसलिये लगाया है कि कर्म कर, यह विधि है और विधि (आज्ञा) होती है इष्ट की, इष्ट कर्मों को स्वयं वेदवर्णन भी करता है इसलिये निष्काम वेदोक्त धर्म्य कर्मों को करता हुआ, ऐसा वाक्य ऋषि दयानन्द का सङ्गत होजाता है। फिर ऐसे कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा कर क्योंकि अधिक काल-पर्य्यन्त शुभ कर्मों को करते हुए जीना अधिकोन्नति का निमित्त है। पूर्वोक्त प्रकार से ऐसा करते रहने पर कोई कर्तव्य या कोई कर्म का प्रकार इससे अतिरिक्त नहीं है और नाही कर्म लिप्त होता है तुझ पुरुष में।

सङ्गति—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में मनुष्य को कर्म करने का उपदेश है। और उत्तरार्द्ध में कर्म के अन्य प्रकार का निषेध और पूर्वोक्त प्रकार की प्रशंसा है।

वस्तुतः जब तक इस मन्त्रानुसार कर्म न किया जावेगा वह कर्म पुण्यरूप न होगा, किन्तु जीवनयात्रा में पूर्ण विघ्न का निमित्त होकर दुःख देगा। आज कल कुछ कर्मशील पुरुष दानरूप शुभकर्म भी सकाम करके दूषित कर देते हैं, कोई २ चाहता है कि मेरे नाम का पत्थर लगवाया जावे, कदाचित् उसका अन्वेषण भी करते हैं कि पत्थर रक्खा है या नहीं। यदि न रक्खा हो तो रुष्ट होजाते हैं और आगे को दान देना बन्द कर देते हैं। ऐसे जन उस दानरूप कर्म का फल पत्थर पर निर्भर करके लिप्त होजाते हैं। कोई सज्जन किसी दूसरे का थोड़ा सा भला करके उसको अपना दास बनाकर तंग करते रहते हैं जिससे स्वयं उनको असह्य क्लेश भोगना पड़ता है, कोई एकः माता पिता अपने पितृधर्म से पालनरूप कर्मों को सकाम बना सन्तान में अत्यन्त मोह बढ़ा कर पीछे दुःख उठाते हैं और संन्यास आदि आश्रम धारण करके भी उनके पीछे २ डोलते हुए दुःख पाते हैं, संसार में प्रायः सकामता के स्रोत में बह कर लोग दुःख और अपयश पाते हैं, प्रत्युत जो निष्काम दानादि शुभकर्म करते हैं वे प्रसन्न और उदारचित्त होकर यश और पुण्य के भागी होते हैं। देखिये यदि कोई ऐसा भद्रजन हो कि जो निष्काम दान करता है अर्थात् अपने नगर में खोज करके विधवाओं, अनाथों और दुःखियों को प्रतिदिन गुप्तदान रूप भोजनादि देता और सन्त महात्माओं का सङ्ग करके सेवा करता है तो उसकी प्रसन्नता और आनन्द के अतिरिक्त वह गुप्तदान सेवा आदि आहुति होकर दूर देश तक में यशरूप से फैल जाती है तथा चिरस्थायी नाम भी रहता है, राजा कर्ण के समान संसार उनको स्मरण करता है और वे पत्थर के अभिलाषी जन अधिक से अधिक मकान के




पड़ता है। तथा आत्महत्यारे जो आत्मा के विरुद्ध आचरण करते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं—

(१) प्रथम वे कि जो आत्मा के चैतन्यस्वरूप को मादक द्रव्य—मद्य, भांग, अफीम, चरस आदि का भोग करके हनन कर देते हैं।

(२) दूसरे वे कि जो आत्मा की साक्षी के विरुद्ध शस्त्र प्रहार आदि कर्म करते हैं अपने सुख दुःख के समान दूसरे के सुख दुःख को न समझकर वर्तते हैं।

(३) तीसरे वे जो ईश्वर-आज्ञा पालन, धर्मप्रचार या परोपकार कार्य्य को किसी मनुष्य के भय से नहीं करते हैं या छोड़ देते हैं, एवं इस आत्मिक शक्ति को हनन करना भी आत्म-हत्या है। सो इन तीनों प्रकार की आत्महत्याओं से आर्य्यों को पृथक् रहना चाहिये॥ इन तीन मन्त्रों तक एक व्याख्यान था जो कि भोग और कर्म का पूरा विस्तार करके दर्शाया है। इति॥



अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्व-मर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मात-रिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

क्रमशोऽर्थः—अचलायमान अद्वितीय (ब्रह्म) मन से भी अधिक वेग वाला (है) नहीं इसको नेत्रादि इन्द्रियें प्राप्त करतीं हैं 'पूर्वही से पहुंचा हुआ है'। वह दौड़ते हुए अन्यों को उलांघ जाता है 'स्थित हुआ, उसमें कर्मों को जीव धारण करता है'।

व्याख्यान—अकेला असहायी जो अपने कृत्य अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा जीवों के पाप पुण्यानुसार फल देने में किसी का सहाय नहीं लेता वह ऐसा ब्रह्म अचलायमान अर्थात् जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं जो कि कदापि ह्रासादि दोषों को प्राप्त नहीं होता; जैसे कि प्रकृति कार्य्यरूप जगदाकार परिणत होकर चलायमान होजाती है तथा जीव भी प्रवृत्ति और संस्कार के चक्र में आकर मन आदि इन्द्रियों के द्वारा चलायमान होकर अनेक ह्रासादि दोषों को प्राप्त होता हुआ दुःख भोगता है, तथा वह ब्रह्म मन से भी अधिक वेग वाला है अर्थात् मन की गति जितने सूक्ष्म पदार्थ तक है वह उससे भी अति सूक्ष्म होने के कारण मन से भी अति वेग वाला है अर्थात् जब मन उसका मनन करता है, तो मनन करते २ मन की शक्ति समाप्त होकर मन थक कर अपनी तुच्छता में बैठ रहता है। तथा मन परिमित स्थान तक जासक्ता है, परन्तु वह उससे भी दूर चला जाता है अर्थात् अपनी अनन्तता में शीघ्रकारी और शीघ्रगामी है, अपरञ्च मन से एक काल में एक ही ज्ञान होता है वह सर्वज्ञ होने से सदा सब कुछ जानता रहता है।




ये अनित्य नेत्रादि इन्द्रियें अपनी वृत्ति शक्तियों से उस ब्रह्म को जो अपनी व्याप्ति से सब ओर पूर्व से ही नित्य प्राप्त और विद्यमान है, नहीं पाती हैं, क्योंकि अनित्य पदार्थ नित्य पदार्थ की खोज नहीं कर सक्ता। यद्यपि उसमें प्राकृतिक पदार्थों के समान गति नहीं है तथापि वह भागने वालों को सदा उलांघ जाता है, कोई भी उसकी सत्ता से पार भागकर नहीं जासक्ता। जीवात्मा भी जो अपनी स्वतन्त्रता से कर्म करता है सो उस परमात्मा में रहता हुआ ही न अन्यथा इससे जीव भी अपनी चैतन्य चितिशक्ति, से ब्रह्म से पृथक् होकर कर्म नहीं कर सक्ता, क्योंकि साक्षी ब्रह्म सर्वत्र विराजमान है, अतः मनुष्य को चाहिये कि शुभ कर्मों का अनुष्ठान सदा किया करे और ब्रह्म की प्राप्ति में मन आदि साधनों को तुच्छ अकिंचित् कर, समझ कर अपने स्वरूप से ब्रह्मदर्शन का प्रयत्न करे॥

सङ्गतिः—इस मन्त्र से दूसरा व्याख्यान आरम्भ हुआ है। पूर्व व्याख्यान में अभ्युदय, सांसारिक सुख प्राप्ति के लिये भोग और कर्म की विधि का उपदेश था, इसके अनन्तर 'ब्रह्मानन्द' के विषय में उपदेश आरम्भ किया है तथा साथ में यह बतलाया है कि हे मनुष्य ! तू साधन रहित नहीं है तेरे पास मन और इन्द्रियें तेरे उपयोग के लिये साधन हैं तू इनसे शुभ कर्म कर जिससे शुभ भोग रूप फल मिले, परन्तु ब्रह्मदर्शन में अलम् (समर्थ) नहीं हैं। अतः अपने स्वरूप से ब्रह्म सम्पत्ति में प्रयत्न कर जो तेरा वास्तविक लक्ष्य है। इस मन्त्र के स्वतः प्रमाण होने से मन इन्द्रियों की सिद्धि तथा जीवात्मा का इनसे पृथक् होना स्पष्ट है जिस आधार रूप सिद्धान्त पर न्यायदर्शन प्रभृति शास्त्रों में पूर्वपक्षोत्तरपक्ष द्वारा निर्णित स्थापना की गई है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

क्रमशोऽर्थः—वह ब्रह्म गति करता है, वह दूर है, वह ही समीप है। वह भीतर इस (उपस्थित) सब (जगत्) के वह ही सारे इस (जगत्) के बाहिर है ॥

व्याख्यानः—वह ब्रह्म मूर्खों, अज्ञानियों की दृष्टि से साक्षात् करने में चलायमान होजाता है, ज्ञानियों, योगियों तथा और पुरुषों की दृष्टि से साक्षात् करने में चलायमान नहीं होता, वह ब्रह्म दूर है पूर्ववत् मूर्ख आदि पुरुषों के, वह ही ब्रह्म समीप है पूर्ववत् ज्ञानी आदिकों के, वह ब्रह्म इस सब जगत् के भीतर अपनी व्याप्ति से विराजमान है, वह ही इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के बाहिर है ॥

सङ्गतिः—मन्त्र में 'एजति' शब्द की सङ्गति न लगती हुई देख कर कोई एक आधुनिक टीकाकार 'एजयति' णिच् लोप वैदिक प्रक्रिया में मानकर (चलाता है) ऐसा अर्थ करते हैं ऐसा अर्थ होजाने से सिद्धान्त की सङ्गति तो होजाती है परन्तु इस में दोष है, क्योंकि जब इसके मूल पर विचार किया जावे तो स्पष्ट हमको मूल प्रणाली यह ही निश्चय कराती है कि जैसे मूल में परस्पर उभय कोटिगत विरुद्ध शब्द दूर-अन्तिक, अन्तर-बाह्य हैं एवं एजति-नेजति भी होने चाहियें, यहां पर कुछ रहस्य है यह बात दूसरी है कि हम न समझ सकें या न सङ्गति लगा सकें अतः नैजति शब्द का विरुद्धार्थ-बोधक एजति ही है नतु णिच्लोप में एजयति। एवं जब पूर्व मन्त्र की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें स्पष्ट इस "तदेजति०"

मन्त्र की सङ्गति भलीभांति लग जाती है अर्थात् पूर्व मन्त्र में जो यह बतलाया कि (वह ब्रह्म मन आदि इन्द्रियों से प्राप्त न होगा इसलिये अपने स्वरूप अर्थात् अध्यात्म योग का सेवन कर) उसही की पुष्टि और सङ्गति में यह मन्त्र है अर्थात् ब्रह्म को मन आदि इन्द्रियों से प्राप्त करने वाले मूर्खों, अज्ञानियों के सामने वह नहीं आता चलायमान होजाता है, क्योंकि वह मन आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है जैसे कोई मनुष्य विना नेत्र (आंख) खोले श्रोत्र (कान) को सामने करके किसी विचित्र रूप वाले पत्ती को देखे एवं ब्रह्म मन आदि का विषयान्तर होने से अवगत नहीं होता तथा ज्ञानियों और अध्यात्म योगियों से जो कि उसको केवल अपने आत्मा से प्राप्त करना चाहते हैं, उनके सामने वह चलायमान नहीं होता। एवं मन आदि के द्वारा प्राप्त करने वालों से वह दूर रहता और अपने आत्मस्वरूप से प्रास करने वालों के समीप होता है ऐसा वह ब्रह्म इस सब जगत् के भीतर है और वह ही इस प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध जगत् के बाहिर है। इसलिये आगामी मन्त्रों में ब्रह्मदर्शन अवस्थाओं और उपायों का वर्णन है॥



यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

क्रमशोऽर्थः—जो (धीर) तो सब उत्पन्न हुए पदार्थों को परमात्मा में ही देखता है। और सब उत्पन्न हुए पदार्थ में परमात्मा को (देखता है) तब (कुछ) संशय नहीं रहता है॥

व्याख्यानः—जो धीर अपने योगानुष्ठित विज्ञान से सब उत्पन्न हुए पदार्थों को परमात्मा में स्थित देखता है और सारे पूर्वोक्त पदार्थों में परमात्मा को अर्थात् जिसने परमात्मा की व्याप्ति का ऐसा भान किया है वह संशयरहित होजाता है। यहां "न विजुगुप्सते" शब्द का अर्थ संशयरहित किया गया हैं, उपसर्गयोग में धातु का अर्थ विशेष या परिवर्तन होजाता है, वेद में जैसे 'न विचिकित्सति' का अर्थ संशयरहित केवल उपसर्गभेद से ही किया है कित् के रोगापनयन अर्थ में होते हुए भी, एवं गुप् निन्दार्थक होते हुए भी उपसर्ग-योग से संशयार्थ समझा जाता है॥

सङ्गतिः—वस्तुगत्या इस मन्त्र में अध्यात्मदशानन्तर सांसारिक पदार्थों के साथ धीर मनुष्य का कैसा सम्बन्ध होजाता है उसका वर्णन है, क्योंकि पूर्व मन्त्र में अध्यात्मदशा का प्राधान्य दिखलाया था उस अध्यात्मस्वरूप (समाधि) के पश्चात् ब्रह्मदर्शन से जो प्रसन्नता और शान्ति का संस्कार रहता है उससे पदार्थों में ब्रह्मदेव के कर्तृत्व और व्यापकत्व सम्बन्ध से ब्रह्म-भासना होती रहती है। जैसे जाग्रत् के पदार्थों का संस्कार स्वप्न में बना रहता है एवं चितिप्रधान ब्रह्मसङ्गति रूप जाग्रत् के संस्कार से तदनन्तर भी ब्रह्मबोध होता रहता



है अथवा जैसे किसी प्रिय मित्र की सङ्गतिरूप आनन्द के संस्कार से उसके वियुक्त होजाने पर भी मननरूप आकृति हृदय में कुछ काल तक बसी रहती है, एवं ब्रह्म सङ्गतिरूप आनन्द के संस्कार से समाधि योग के पश्चात् भी मननरूप ब्रह्मदर्शन आत्मा में कुछ काल तक बसा रहता है। यह स्वरूप इस मंत्र का है॥



यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

क्रमशोऽर्थः—जिस परमात्मज्ञान अवस्था में सारे प्राणी आत्मस्वरूप ही होते हैं विशेष विज्ञानी के। उस परमात्मज्ञान अवस्था में (विज्ञानी के प्रति) कौन मोह, कौन शोक (है) एकत्वाभ्यास-निमग्न के ॥

व्याख्यानः—विशेष विज्ञानी के जिस परमात्मज्ञान अवस्था में सारे प्राणी आत्मस्वरूप ही होते हैं अर्थात् सारे पदार्थों का विवेचन करता हुआ परमात्मबोध में सृष्टिक्रम से सारे प्राणियों को आत्मस्वरूप में समझता है यथा "आत्मदा बलदा" मन्त्र में आत्मज्ञान का दाता "आत्मदा" है ठीक वह आत्मत्व अर्थ रूप शब्द यहां है इसलिये-आत्मा के इच्छादि लिङ्ग या निमेष गत्यादि के दर्शन से प्राणी में आत्मप्रतीति होती है कि आत्मा इसमें है या यह प्राणी भी मेरे जैसा आत्मा है तो फिर यथा सुख दुःखादि हमको किसी निमित्त से होते हैं उनके प्रति भी उन निमित्तों से सुख दुःखादि का होना निश्चय करना ही प्राणियों का आत्मज्ञान दर्शन है, तथा जैसे मैं अपने गुण, कर्म, स्वभावों से अवस्थान्तर को प्राप्त होता हुआ सुख दुःख का भोग करता हूं तथैव ये प्राणी भी ऐसे ही हैं और जैसे मैं कर्म करने में स्वतन्त्र हूं अपि च मेरा स्वातन्त्र्य ही जन्म मरण के दुःख तथा मुक्ति के सुख का हेतु है, इससे पुत्रादि जन्म-मरण-रूप मोह शोकादि करना व्यर्थ है।

जो इस प्रकार एकत्वाभ्यासनिमग्न आत्मदर्शी है उसके प्रति कोई मोह और शोक नहीं है, वस्तुतः ऐसे योगी को कोई भी प्राणी अपने गुण, कर्म, स्वभावों के द्वारा स्त्री आदि मनुष्य-

जाति में से और गौ आदि पशुजाति में से मोह का कारण तथा राक्षस आदि मनुष्यजाति में से और सिंह आदि पशु-जाति में से शोक का कारण नहीं होता।

सङ्गतिः—इस मन्त्र में अध्यात्मयोगानुष्ठानी का जीवों (प्राणियों) के साथ कैसा सम्बन्ध होजाता है, उसका वर्णन है, क्योंकि अध्यात्मदशा के प्राधान्य के अनन्तर तदनुष्ठानी का सांसारिक पदार्थों के साथ कैसा सम्बन्ध होजाता है यह पूर्व मन्त्र में आया और जीवों के साथ कैसा होजाता है यह इस मन्त्र में आया तथा ब्रह्म के साथ कैसा सम्बन्ध होजाता है, ब्रह्म कैसा है, उसके प्रति ऐसा वर्णन अगले मन्त्र में है। एवं फलप्रज्ञापक स्वरूप से योगी की जीवन्मुक्त दशा का वर्णन है।

विशेष विचारः—(प्रश्न) इस मन्त्र का सीधा अर्थ क्यों नहीं करते जो वेदान्त की ओर चला जाता है अर्थात् जिस अवस्था में सारे भूत उत्पन्न हुए पदार्थ 'आत्मैव' ब्रह्मात्म ही होगये हैं कि जिसने प्रत्येक पदार्थों में ब्रह्मबुद्धि का ही निश्चय किया है, सब कुछ ब्रह्म है ऐसा मन्तव्य जिसने कर लिया है उस ऐसे एक ब्रह्मस्वरूप ज्ञाता की अवस्था में कौन मोह और कौन शोक है? अर्थात् कुछ भी नहीं है। क्योंकि 'भूत' शब्द का अर्थ जब कि उत्पन्नमात्र प्रत्येक पदार्थ के भी होते हैं॥

(उत्तर) अच्छा तुम ही 'भूत' शब्द के अर्थ उत्पन्नमात्र पदार्थ के क्यों करते हो जब कि भूतशब्द अनेकार्थबोधक है और इन निम्नलिखित अर्थों में से अन्य अर्थ का ग्रहण क्यों नहीं करते। यथा—

(१) भूत = 'उदकनाम' निघण्टु। अ० १। खं० २॥

(२) भूत = 'कालनाम' यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चा-धितिष्ठति ॥ वेद ॥ भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वं ओंकार एव ॥ माण्डूक्योपनिषद् ॥

(३) भूत = 'भू+क्त सु' भूतकाल में क्त प्रत्यय होकर भूतकालस्थ पदार्थ मृतक शरीरादि का भी वाचक होता है, व्याकरण की यौगिक व्युत्पत्ति से। जैसे—भूतमिदं शरीरं विनष्ट-मित्यर्थः ॥

(४) भूत = 'पृथिव्यादि पञ्चभूत' पृथिव्यापस्तेजो वायु-राकाशमिति भूतानि ॥ न्यायदर्शन ॥

(५) भूत = 'सञ्जात = सम्पन्न' यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ वेद ॥

(६) भूत = जगत्, हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥ वेद ॥

(७) भूत = 'उत्पन्नमात्र पदार्थ' एकस्तथा सर्वभूतान्त-रात्मा०, एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा० ॥ कठोपनिषद् ॥ प्रभवा-प्ययौ हि भूतानाम् ॥ माण्डूक्योपनिषद् ॥

(८) भूत = 'प्राणिनाम्' ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ अन्नमिति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि अन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति० ॥ छान्दोग्योपनिषद् ॥

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ॥ योग-दर्शन व्यासभाष्य ॥

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ मनु० ॥

विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ मनु० ॥

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ मनु० ॥

जब कि 'भूत' शब्द के आठ (८) अर्थ हुए तो फिर ७ अर्थों को तुम भी क्यों छोड़ कर अपना अभीष्ट अर्थ करते हो? जैसे योग्यता और तात्पर्य को ध्यान में न रखते हुए तुम अन्य अर्थों को छोड़ते हो, वैसे ही हम योग्यता को ध्यान में रखते हुए उत्पन्नमात्र वस्तु अर्थ को छोड़ते हैं, क्योंकि केवल प्राणी अर्थ की ही यहां न्याययुक्त सङ्गति होती है। हम तुम से पूछते हैं कि तुम्हारे 'भूतानि' शब्द के (उत्पन्नमात्र पदार्थ) ऐसा अर्थ करने तथा उदक आदि अन्य अर्थों के छोड़ने में क्या प्रमाण है? केवल स्वार्थसिन्धु अर्थ करना मात्र ही लक्ष्य है। एवं अयोग्यता तथा गौरव का होना ये दो (२) दोष हैं।

हमारे 'भूतानि' शब्द का (प्राणी) अर्थ करने और अन्य उदक आदि अर्थों के छोड़ने में दो प्रमाण हैं, एक योग्यता और दूसरा लाघव न्याय। क्योंकि वाक्यार्थ-बोध में चार कारण होते हैं:—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। तुम्हारे अर्थ करने में योग्यता पर ध्यान नहीं दिया गया अर्थात् सांसारिक पदार्थ जड़ादि परिणामी अनात्मा आदि में चैतन्य अपरिणामी आत्मख्याति करना जो सर्वथा योग्यता न्याय से विरुद्ध है और योगदर्शन के सिद्धान्त से 'अविद्या' समझी जाती है। हमारे अर्थों में उक्त दोष नहीं हैं, क्योंकि प्राणियों में इच्छादि गुण न्यायदर्शनानुसार निमेष, गति, जीवन

आदि वैशेषिकीय से अपने समान 'जीवात्मा' बुद्धि करना सर्वथा युक्त है। अपरञ्च तुम्हारे अर्थों में यह भी त्रुटि है कि अन्यत्र जहां ईश्वर, जीव, प्रकृति भेद रूप से वर्णन किया है, उससे विरोध आकर सन्दिग्ध सिद्धान्त होजाता है। यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि-विश्वे निषेदुः स किमृचा करिष्यति यस्तन्न वेद० ॥

इस मन्त्र में परम व्यापक 'एक ब्रह्म' द्वितीय जगत्-कारण अग्नि आदि देव स्थित हुए, तृतीय जो उसको नहीं जानता वह जानने वाला जीव, एवं तीनों स्पष्ट हैं तथा अन्यत्र भी ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व-जाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि-चाकशीति ॥

इस मन्त्र में आलङ्कारिक रूप से ब्रह्म, जीव और प्रकृति का वर्णन है ब्रह्म और जीव दोनों चेतनता और पालन आदि गुणों से सदृश हैं उन में से एक 'जीव' इस प्रकृति के कार्य्य जगत् को भोगता है दूसरा 'ब्रह्म' नहीं भोगता है इत्यादि अनेक मन्त्र हैं, इसलिये विरोध पड़कर सन्दिग्ध सिद्धान्त होजाने का व्यर्थापत्ति दोष आता है। अतः 'भूतानि' शब्द का अर्थ प्राणी ही करना युक्तियुक्त है।

(प्रश्न) परस्पर वेदमन्त्रों के विरुद्ध होने से कोई सन्दिग्ध सिद्धान्त या व्यर्थापत्ति दोष न आवेगा, क्योंकि मनु ने कहा है कि—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥
मनु० अ० २ । श्लोक १४ ॥

भावार्थः—वेदमन्त्रों में परस्पर द्विधा सिद्धान्त होने से कोई सन्दिग्धता नहीं है, क्योंकि वे दोनों धर्म हैं ऐसा आप्त पुरुषों ने कहा। अतः ईश्वर, जीव, प्रकृति भेदरूप से हो या अभेदरूप से कोई दोष नहीं है।

(उत्तर) यह द्विधा या विपरीतता भी व्यर्थ है, क्योंकि जब 'भूतानि' शब्द का प्राणी अर्थ करने में सम्यक् सामर्थ्य है तो फिर द्विधा विपरीतता में गौरव सिद्धान्त मानना लाघव न्याय से बाहिर है, लोक में प्रसिद्ध है कि "अनायासेन वा लघुप्रयत्नेन सिद्धे सति प्रयासेन गुरुप्रयत्नेन क आरभेतेति" सुगमता से कार्य्य सिद्ध होने में कठिनता से कौन आरम्भ करे। किंवा एक श्रम से कार्य्य सिद्ध होने पर दो श्रमों से कार्य्यारम्भ करना विवेकी पुरुषों से अमाननीय है। तथा—

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसंप्रत्ययः ॥ व्याकरण-महाभाष्य ॥

गौण और मुख्य के प्रसङ्ग में मुख्य में कार्य्य किया जाता है। इसलिये मुख्य भेदरूप है और तुम्हारा 'भूतानि' शब्द का (सांसारिक पदार्थ) अर्थ करके अभेद वर्णन करना गौण है, अतः यह अर्थ त्याज्य है॥

(प्रश्न) यह कैसे कि हमारा गौण और आपका मुख्य, ऐसा क्यों नहीं कि हमारा मुख्य और आपका गौण है। अतः अभेद ही सिद्धान्त मुख्य रखकर भेदवाचकों का अर्थ अनर्थापत्ति में क्यों नहीं समझते ?

(उत्तर) साहसमात्रमेतद्यदुक्तमस्माकम्मुख्योऽर्थो भवताञ्च गौण इति, कुतो युष्माकमर्थविधाने गौरवाद् गौणत्वं भेदरूपेण वेदाध्ययनपारम्पर्ये पूर्वर्षिभिर्व्याख्याततत्वाच्च अतोऽस्मदीयभेदरूपकोऽर्थो मुख्य इति। यथा च निरुक्तवेदाङ्गे ऋचोऽक्षरे परमे० (ऋचोऽक्षरे परमे व्यवने यस्मिन् देवा अधिनिषण्णाः सर्वे यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते इति विदुष उपदिशति ॥ निरुक्तपरिशिष्ट। अ० १। खण्ड १० ॥

द्वा सुपर्णा० (द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्तारौ दुष्कृतं पापं परिसारकमित्याचक्षते सुपर्णा सयुजा सखायेत्मानं दुरात्मानं परमात्मानं प्रत्युत्तिष्ठति शरीर एव तज्जायते वृक्षं ऋक्ष शरीरं वृक्षं पक्षौ प्रसिष्ठापयति तयोरन्यद् भुक्त्वान्नमनश्नन्नन्यतां सरूपतां सलोकतामश्नुते य एवं वेदान्नमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यात्मगतिमाचष्टे) । निरुक्तपरिशिष्ट । अ० २ । खण्ड ३० । इति ॥

इन निरुक्त वचनों से सिद्ध हुआ कि वेदाध्ययन परम्परा से पूर्व ऋषियों ने भेदरूप से ब्रह्म, जीव, प्रकृति का वर्णन किया है जो सिद्धान्त आदि सृष्टि के ब्रह्मा से लेकर सब ऋषि महर्षि वेदार्थबोधक अङ्ग ग्रन्थों में लिखते और मानते आये हैं वह मुख्य हुआ और आपका नवीन होने से गौण हुआ। अतः गौण सिद्धान्त की निष्फलता और अन्य दोष होने से अभेद वर्णन करना न्याययुक्त न होकर 'भूतानि' शब्द का दोषरहित प्राणी अर्थ ही करना उचित है। एवं कुछ आधुनिक टीकाकार 'भूतानि' शब्द का अर्थ (सांसारिक पदार्थ) ही करते हैं परन्तु यह कहते हैं कि एक ऐसी दशा होजाती है कि जिसमें यह सृष्टि भी आत्मरूप ही दिखलाई देती है।

अतः उस अवस्था में न कोई मोह है और न शोक; ऐसा वर्णन करने के प्रकार टीकाकारों के दो हैं:—

(१) प्रथम—कोई एक नवीन वेदान्त के समान (यह सृष्टि गत पदार्थ ब्रह्मरूप ही हैं) ऐसा लिखते हैं ॥

(२) दूसरे—योगावस्था अर्थात् समाधि दशा में सब पदार्थ ब्रह्म ही होजाते हैं, ऐसा लिखते हैं, प्रथम प्रकार के सिद्धान्त को टीकाकारजी अपनी पुस्तक में गुरु शिष्य संवाद द्वारा वर्णन करते हैं। अब उनकी समालोचना की जाती है ॥

पहिले प्रतिकूल संवाद द्वारा खण्डन किया जाता है फिर यौक्तिक रूप से भी खण्डन किया जावेगा। गुरु-वचन है कि-

"प्रकृति रूप सब सृष्टि" है।

शिष्य—सब सृष्टि प्रकृति ही है इसका क्या अर्थ है?

गुरु—यह जो विश्व दीखता है इतना ही नहीं है इससे अतिरिक्त द्युलोक आदि अदृश्य विश्व भी हैं। यह दृश्य अदृश्य जगत् सब प्रकृति का परिणाम ही है, क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है जो जगदाकार होगई है, दृश्य अदृश्य जगत् में प्रकृति अर्थात् परमाणु ही परमाणु हैं ॥

शिष्य—यह कैसे सम्भव है? क्योंकि सृष्टि परमात्मा ने बनाई। प्रकृति अव्यक्त सत्, रज, तम की साम्य अवस्था है। दोनों स्थिति और स्वरूप में भिन्न हैं। इसलिये प्रकृति ही है ऐसा भाव किस प्रकार होना सम्भव है?

गुरु—यह विचार दृष्टि से प्राप्त होने वाली एक अवस्था है। प्रकृति से सृष्टि बनी और परमात्मा ने बनाई इस में कोई सन्देह नहीं, परन्तु इसके अतिरिक्त विचार की एक दृष्टि है। जैसे-खोया आदि पदार्थों से मिठाई हलवाई के हाथ से बनती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिठाई हलवाई ने बनाई, परन्तु



उन ही खोया आदि के भेद होने से पेड़ा, बालूशाही, नमकीन पक्वान्न रूप परिणत हो ही जावेंगे। चाहे हलवाई देवदत्त हो या कृष्णदत्त, खाया आदि में पेड़ा आदि बनना रूप परिणाम होना है ही, चाहे अलीगढ़ का हलवाई हो या अजमेर का, यथा चित्र में

हलवाई + खोया आदि की गौणिक भिन्नता
―――――――――――――――― +
हलवाई से + पेड़ा

हलवाई + खोया आदि की गौणिक भिन्नता
―――――――――――――――― +
हलवाई से + बालूशाही

हलवाई + खोया आदि की गौणिक भिन्नता
―――――――――――――――― =
हलवाई से + नमकीन दाल

खोया आदि की गौणिक भिन्नता
――――――――――――――――
पेड़ा + बालूशाही + नमकीन दाल

इस उदाहरण से स्पष्ट पता लगता है कि हलवाई के द्वारा खोया आदि भिन्न २ गौणिक स्वरूप ही मिलकर पेड़ा, बालूशाही, नमकीन दाल ये तीन पदार्थ बने हैं। यदि खोया आदि के गुणों के कारण पेड़ा आदि का बनना अन्तर्हित न होता तो यह तीनों पेड़ा आदि न बनते। नहीं है हलवाई का सामर्थ्य कि केवल वायु या जल से पेड़ा आदि सर्व स्वादु गुण सम्पन्न बनावे। वस्तुतः इन पेड़ा आदि तीनों वस्तुओं का स्वरूप विकार भाव से खोया आदि के अन्तर्हित था, वह पेड़ा आदि परिणाम होना किसी हलवाई की आवश्यकता रखता था उन खोया आदि वैकारिक अन्तर्हित गुणों को हलवाई रूप देवदत्त का आश्रय मिला, अतः खोया आदि पेड़ा आदि बन गये। यदि रामचन्द्र

था कृष्ण हलवाई मिलता तो भी उनको पेड़ा आदि बन ही जाना था। यद्यपि पेड़ा आदि देवदत्त के द्वारा बना तथापि वह पेड़ा आदि खोया आदि का रूपान्तर समझा जाता है। सोचने से यह बात समझ में आजावेगी। फिर उदाहरण देखिये:—

$$\frac{\text{हलवाई + खोया आदि की गौणिक भिन्नता}}{\text{हलवाई + पेड़ा}} =$$

$$\frac{\text{हलवाई — खोया आदि की गौणिक भिन्नता}}{\text{हलवाई – पेड़ा}} =$$

$$\frac{\text{खोया आदि की गौणिक भिन्नता}}{\text{पेड़ा}}$$

हलवाई के द्वारा खोया आदि का गौणिक भिन्न २ स्वरूप ही पेड़ा आदि में परिणत होजाते हैं यदि खोया आदि में पेड़ा आदि बनना अपना स्वभाव न हो तो हलवाई कभी भी पेड़ा आदि नहीं बना सक्ता वह खोया आदि का खोया आदि ही पड़ा रहेगा। जैसे लोह, जल, काष्ठ कभी पेड़ा आदि नहीं बन सक्ता। अतः हलवाई पेड़ा आदि आकार हो जाना उसका धर्म नहीं है। पेड़ा आदि मिठाई बन जाना खोया आदि का ही धर्म है जो हलवाई के बनाने से पूर्व ही खोया आदि में अन्तर्हित था। जैसे सूर्योदय से पूर्व ही गौ आदि पशु या सब सामग्री विद्यमान ही थी केवल उसके प्रकाश से गौ आदि सामग्री की अभिव्यक्ति (प्रकटता) हुई है।

शिष्य—आपके कहने का भाव यह है कि पेड़ा आदि मिठाइयें हलवाई नहीं, किन्तु खोया आदि का ही रूपान्तर है।

गुरु—ठीक है, खोया आदि में पेड़ा आदि रूप पूर्व से ही अन्तर्हित था जो हलवाई के द्वारा प्रकट होगया। जैसे-दियासलाई या आग्नेय पाषाण (चक़मक़) में अग्नि का सूक्ष्म स्वरूप पूर्व से ही विद्यमान था जो किसी रगड़ने वाले की सहायता से बाहिर प्रकट हुआ, एवं खोया आदि से भी किसी देवदत्त आदि हलवाई के द्वारा पेड़ा आदि बनना समझें। इसलिये खोया आदि से बनी हुई मिठाई सब अपने ही गुणों से है, क्योंकि "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः"। जो २ उपादान कारण में गुण होते हैं वे उसके कार्य्य में आया करते हैं। तथा—कारणाभावात्कार्य्याभावः, कारणभावात् कार्य्यभावः ॥ वैशेषिक ॥

अतः पेड़ा आदि हलवाई का रूपान्तर नहीं, किन्तु खोया आदि का ही रूपान्तर है ॥

शिष्य—मैं पहिले इस वेदान्त के भ्रम में था कि हलवाई ही स्वयं पेड़ा आदि रूपान्तर होगया, परन्तु अब मानना पड़ता है कि पेड़ा आदि खोया आदि का ही रूपान्तर है। एवं इस आपके ऐसे दृष्टान्त देने से यह प्रतीत होता है कि आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सब सृष्टि अपने कारण प्रकृति का ही रूपान्तर है न कि परमात्मा का ॥

गुरु—बिलकुल ठीक है, सब विश्व प्रकृति का ही रूपान्तर या विकार है न कि परमात्मा का। यह सृष्टि प्रवाहरूप से अनादि है जो कि 'प्रकृति' अर्थात् बीज में पूर्व से ही अन्तर्हित है। जैसे चने आदि बीज में तरु (पौदे) का आकार अन्तर्हित होता है, कृषक (किसान) आदि के द्वारा वृक्षरूप सृष्टि बीज की बन जाती है। यदि बीज में वृक्षाकार अन्तर्हित

नहीं है तो वह बीज ही नहीं है। एवं यदि प्रकृति (बीज) में सृष्टिरूप वृक्षाकार अन्तर्हित नहीं है तो वह प्रकृति ही नहीं है। अतः यह सब सृष्टि प्रकृति का ही रूपान्तर है। इससे सृष्टि का विवेचन कर, अपना सम्बन्ध इससे हटा कर जो सृष्टि से भिन्न वस्तु आनन्दस्वरूप परमात्मदेव है उसके साथ आत्मस्वरूप से सम्बन्ध करे अन्तर्मुख कैवल्य दशा में हो कर, नहीं तो सृष्टि को परमात्मा का रूपान्तर समझ कर कभी भी इस संसार से छुटकारा न होगा। अतः योग का आश्रय ले, जिसमें मनोवृत्ति का भी अभाव होजाता है॥

शिष्य—नाना विध रूपान्तर जो होती है या जो परिणामिनी है, वह प्रकृति है।

गुरु—हां, क्योंकि यदि वह प्रकृति ऐसी न होती तो लक्षण और व्यापार के अभाव से उसको प्रकृति ही नहीं कह सकते और ना ही वह फिर कुछ है। प्रकृति का प्रकृतित्व भी पूर्व कथन में ही है। तथा मनुष्य की इस सांसारिक मन और बुद्धि का अभाव होजावे तो अपनी पवित्र चितिशक्ति में ब्रह्म-दर्शन करता ही है। वैसे ही प्रलय में परमात्मा आनन्द शान्त और अद्वैत अवस्था में रहता है। परमात्मा और जीव के वास्तविक पुरुषस्वरूप में कोई हानि नहीं होती ॥ इति ॥

एवं इस गुरु-शिष्य संवाद द्वारा हमने भी दर्शाया और सिद्ध किया है कि **प्रकृति रूप सब सृष्टि** है, अतः पूर्वोक्त टीकाकार का गुरु-शिष्य संवाद द्वारा 'आत्मरूप सब सृष्टि है' है ऐसा सिद्ध करना अनेकान्तिक होजाने से हेत्वाभास है, अतः अमाननीय है। क्योंकि केवल प्रकृति से ही सृष्टि का बनना नहीं होसक्ता और ना ही केवल ब्रह्म से तथा दोनों प्रकृति



और परमात्मा होने पर जीव भी अपेक्षित है कि जिनके अनन्त कर्मों के फल भोगने या भुगाने के लिये विस्तृत आकार सृष्टि बनती है अतः केवली सिद्धान्त अयुक्त है। याद रहे यदि केवली सिद्धान्त पर ही अड़े रहे तो सिद्ध करने वाला यह स्पष्ट सिद्ध कर सकता है कि 'जीव रूप सब सृष्टि है' जिसको यहां बिस्तार-भय से लिखना अयुक्त समझता हूं, परन्तु वाचनिक मात्र केवली सिद्धान्त अकिञ्चित्कर ही है।

अब टीकाकारोक्त 'आत्मरूप सब सृष्टि है' इसकी कतिपय अत्युक्तियों की समालोचना संक्षेप से की जाती है। टीकाकार की प्रतिज्ञा है कि 'आत्मरूप सब सृष्टि है'।

(१) गुरु-संवाद में—'सब सृष्टि में परमेश्वर व्याप्त है' ऐसा कहने से सब सृष्टि परमात्मा ही है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

समीक्षक—क्या प्रतिज्ञा वाक्य (पक्ष) और अगले वचन में भेद नहीं है ?

टीकाकार-वचन—सब सृष्टि परमात्मा ही है, ऐसा ज्ञान एक अवस्था में हो सक्ता है, वह मननशील मुनि की एक अवस्था है।

समीक्षक—'सब सृष्टि में परमेश्वर व्याप्त है' इस पूर्वोक्त वचन से यह उत्तर वचन सर्वथा विरुद्ध और यह सिद्धान्त सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि समाधि-दशा में तो सृष्टि-सम्बन्ध होता ही नहीं, इसलिये वहां तो ऐसा वचन कह ही नहीं सक्ते, रहा मनन में भी उपस्थित सृष्टि से भिन्न का ही चिन्तन मन में होगा न कि यह सृष्टि-ही परमात्मा है, जैसे कि हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, सहस्रों नाड़ियों और मन आदि इन्द्रिय पर्यन्त यह जड़समुदाय एक सृष्टि है, विवेकी (मननशील) पुरुष



इस समुदायरूप सृष्टि से पृथक् ही आत्मा का मनन करेगा न कि यह सृष्टि ही आत्मा है ऐसा । वस्तुत: इस पूर्वोक्त समुदाय रूप सृष्टि के साथ तो उसका नैमित्तिक सम्बन्ध या व्यापार है जब इस नैमित्तिक सम्बन्ध से अलग होगा तो वह अपने शुद्ध चितिस्वरूप से परमात्मा के साथ सम्बन्ध करके मोक्षानन्द पावेगा । ठीक ऐसे ही मननशील इस विस्तृत सृष्टि से पृथक् वह परमात्मा है, ऐसा मनन करेगा। वस्तुत: जो एवं मनन से हम उसको कर्तृत्व आदि औपाधिक गुणों वाला समझते हैं, एक समय ये औपाधिक गुण न रहेंगे उस समय उसका स्वरूप "एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:" ही है, जिसका दर्शन समाधि-दशा से होगा, अत: मनन से भी यह सृष्टि परमात्मा नहीं हो सक्ता। और जो षष्ठ संवाद में कहा कि कुछ शेष न रहेगा यह कहना भी अयुक्त हुआ, क्योंकि इस प्राकृतिक घट पट आदि बुद्धि का निकल जाना तो इष्ट ही है, बिना इसके लय के समाधि या मुक्ति हो नहीं सक्ती। पुरुष का पुरुषत्व भी उस ही समय है जब कि स्वस्वरूप में हो। तथा ६ष्ठ, ७म संवाद से यह टपकता है कि नैमित्तिक या औपाधिक बुद्धि निकलने पर जीव का लय तथा परमात्मा के सृष्टि सम्बन्धी गुणों के न रहने पर सृष्टि के नाश (लय) के साथ ही परमात्मा का लय हो जावेगा, तो फिर यह सब शून्य हुआ और शून्य से सब कुछ बनना यह अयुक्त सिद्धान्त निकला, जो ठीक नहीं है, क्योंकि **'नासत आत्मलाभः'** अवस्तु से वस्तु कभी नहीं बनता है।

(८) गुरु०–में टीकाकार कहते हैं (परमात्मशक्ति ही यह दृश्य सृष्टि है, प्रकृति से सृष्टि नहीं बनी)।

समीक्षक—जब कि प्रकृति से सृष्टि नहीं बनी तो फिर प्रकृति की उपादान कारणता न रहने पर प्रकृति कोई वस्तु ही नहीं है, जब ऐसा है तो उपादान कारण के अभाव में ब्रह्म ही सृष्टि बन गया है तो फिर क्या विना सृष्टि बने ब्रह्म को चैन न पड़ा ? क्योंकि जीव तो सदा उसके ही स्वरूप में प्राकृतिक प्रतिबन्ध से रहित थे ही, ना वे बद्ध और ना ही मुक्त हैं, अतः यह सिद्धान्त अनुपपन्न है ॥

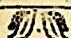
तथा 'आत्मरूप सब सृष्टि है' इसमें किसी वेद, उपनिषद् और दर्शन का भी प्रमाण नहीं है, प्रत्युत निषेधार्थ तो वचन मिलते हैं। क्योंकि सृष्टि ऐन्द्रियिक-अवस्था का प्रत्यक्ष है और परमात्म-साक्षात्कार केवल आत्मा से ही समाधिरूप होकर किया जाता है, यथा—परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ इस वेदमन्त्र में स्पष्ट कहा है कि उस आत्मा को आत्मा से प्राप्त करो ॥

(पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद्धीरः०) .

इस उपनिषद् वचन में भी स्पष्ट लिखा है कि बहिर्मुख इन्द्रियें हैं, अतः इनसे बाहिर की वस्तुएं देखता है अन्तरात्मा को नहीं, कोई धीर होता है जो इनका निरोध करके परमात्मा को देखता है ॥

केनोपनिषद् में भी लिखा है कि (यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति० तथा यन्मसा न०) परमात्मा इन्द्रिय और मन से भी नहीं प्रत्यक्ष होता ॥

वेदान्तदर्शन में भी कहा है (जन्माद्यस्य यतः) इस जगत् का जन्मादि=उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होता है जिससे उस



ब्रह्म को जानना चाहिये। वेद भी स्पष्ट भेद करके सृष्टि से भिन्न ही परमात्मा के जानने का उपदेश करता है, परन्तु टीकाकार का एक नवीनवेदान्त न जाने कहां से आया ॥

तथा उपस्थित मन्त्र से अगला मन्त्र 'सपर्य्यगाच्छु०' इत्यादि भी कह रहा है कि वह इस सृष्टि से भिन्न ही है और उपादान-कारण प्रकृति से सृष्टि नहीं बनी ऐसा निषेध किसी शास्त्र में नहीं है, प्रत्युत (प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकार०) इत्यादि विधि वचन ही मिलते हैं ॥

तथा अभ्यास करते २ ऐसी किसी अवस्था का आना असम्भव है कि जिसमें यह सृष्टि परमात्मा ही समझा जावे, हां समाधि योग कर चुकने के पश्चात् उसके संस्कार से कुछ काल तक परमात्म प्रेम आत्मा की प्रसन्नता और शान्ति से सामने के सूर्य्य आदि भूतों (पदार्थों) में परमात्म दर्शन सा करता रहता है, उसके कर्तृत्व और व्यापकत्व सम्बन्ध से। जैसे जागृत के पदार्थों का संस्कार स्वप्न में भी उनका दर्शन कराता है एवं समाधि में सत्यस्वरूप चैतन्य जागृत का संस्कार समाधि के पश्चात् भी आत्मदर्शन कराता है ॥

अथवा जैसे किसी का प्यारा मित्र जिसके साथ आन्तरिक प्रेम हो उसके सन्मुख होने पर प्रेम प्रसन्नता और शान्ति का संस्कार उसके अलग होजाने पर भी उसकी आकृति दृष्टि के सामने फिरती (घूमती) रहेगी वैसे यहां पर भी समझें, केवल भेद इतना होगा कि गृह आदिकों में मित्र की अनुपस्थिति है और चित्र मन में, यहां परमात्मा सब पदार्थों में है और चित्र आत्मा में है, परन्तु यह दशा तो पूर्ववर्णित 'सर्वभूतेषु चात्मानं०' मन्त्र ६ के साथ सम्बन्ध रखती है उस ही से सिद्ध है,





क्योंकि उसके पूर्वार्द्ध में सृष्टि की तुच्छता और उत्तरार्द्ध में ब्रह्म की महत्ता तथा व्यापकता वर्णन की थी विशेष उक्त दर्शन के लिये नहीं, 'ईशावास्य' मन्त्र में ही व्यापकता सिद्ध हो चुकी थी, अतः 'आत्मरूप सब सृष्टि है' यह सिद्धान्त दूषित है॥

और जो लोग 'भूतानि' शब्द का अर्थ सांसारिक पदार्थ करके आत्मा बनाना समाधि दशा में मानते हैं सो भी अयुक्त है क्योंकि समाधि है आध्यात्मिक दशा, जिस में मन आदि इन्द्रियों से पृथक् होकर जीव अपने शुद्धस्वरूप चिति शक्ति में आकर परमात्म-दर्शन करता है इसलिये समाधि में परमात्मा ही साक्षात् होता है भिन्न सांसारिक पदार्थ ही परमात्मा नहीं बनते हैं जैसे श्रोत्र (कान) से प्रत्यक्ष होने वाला शब्द , रूप बनकर नेत्र (आंख) का विषय कभी नहीं होसक्ता एवं मन आदि का भी ऐन्द्रियिक विषय सांसारिक पदार्थ आत्मा नहीं बन सक्ता, अतः ऋषि दयानन्द कृत अर्थों का ही सम्मान करना योग्य है, नतु व्यर्थालाप का ॥



स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्ध-मपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

क्रमशोऽर्थः—वह (परमात्मा) सब ओर परिपूर्ण शीघ्रकारी सर्वशक्तिमान स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर रहित अच्छेद्य तथा छिद्र रहित नाड़ी आदि सम्बन्ध रहित शुद्ध पाप से पृथक् । सर्वज्ञ सबकी मनोवृत्तियों का जानने वाला पापियों का तिरस्कारकर्ता स्वयं अपनी सत्ता से विराजमान यथार्थता से (वेद द्वारा) पदार्थों को विधान करता है सनातनी जीव रूप प्रजा के लिये ॥

व्याख्यानः—जैसे जीव या प्रकृति तथा उसका कार्य्य सृष्टि एकदेशी है वैसे ब्रह्म नहीं, प्रत्युत उसकी विराजमा-नता प्रधान है जिसकी समानता कोई नहीं कर सक्ता, सृष्टि सम्बन्धी कार्य्य तथा जीवों के पाप पुण्य का फल भुगाने रूप न्याय करने में क्षण भर भी देर नहीं करता, अस्मदादि न्याया-लयों के समान वर्षों धोखे में नहीं पड़ता जो कभी जीव के स-मान शरीर धारण नहीं करता तथा नस नाड़ियों के लपेटे में आकर कभी जन्म मरण के धक्के नहीं खाता और बिलबि-लाता, अविद्या आदि दोषों से परे है, पापयुक्त पापकारी पाप प्रिय कदाचित् नहीं होता, सर्वज्ञ सबके मानसिक व्यापारों का जानने वाला, पापियों का तिरस्कारी जिसकी विराजमानता अद्वितीय है जीव और प्रकृति के समान जो किसी के आश्रय नहीं है जिसकी सिद्धि से अन्य की सिद्धि है, यथार्थ वेद विद्या द्वारा सब पदार्थों का विधान जीव रूप अपनी सना-तनी प्रजा के लिये करता है ।

सङ्गति—इस मन्त्र में उपासक का सम्बन्ध ब्रह्म से कैसा है उसको दर्शाया है अर्थात् जिस ब्रह्म-दर्शन का वर्णन फल सहित पूर्व मन्त्रों में आया है उसका निर्गुण और सगुण रूप वर्णन किया है तथा सन्देह निवृत्ति के लिये भी आया है कि पूर्व भूतों में तत् २ पदार्थों का गुण कर्म या आकार अथवा अवयव या अवयवी ब्रह्म (परमात्मा) न समझा जावे जो कि सृष्टि है परन्तु उससे भिन्न एतल्लक्षण गत ब्रह्म है। अब इस मन्त्र तक तीसरा व्याख्यान था जिसमें जीव के साधनों का वर्णन और ब्रह्म-दर्शन में उनकी तुच्छता और आत्मस्वरूप की योग्यता तथा उपासक की सन्निधि में सांसारिक पदार्थ, जीव और परमात्मा किस दर्शन में होते हैं॥



दयानन्द के ऋषित्व पर आघात का प्रत्याख्यान।

(संख्या १)



रे आर्यगण, वर्त्तमान समय में वेदों के आधुनिक टीकाकारों में एक टीकाकार पं० सातवलेकरजी भी हैं, आपने ऋषि दयानन्द के कई एक सिद्धान्तों पर विरोध प्रकट किया है जैसे संध्या करने का विधान ऋषि ने सायं प्रातः दो कालों में ही किया; पंडितजी ने कई कालों में सन्ध्या करना वतलाया तथा ऋषि दयानन्द का सिद्धान्त है गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण-व्यवस्था होती है और पंडितजी ने जन्म माना है। कई एक मन्तव्यों का अप्रकट रूप में भी आपने खण्डन किया है जिसको आगे चल कर दर्शावेंगे। इस ही प्रकार आपने ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर भी लेखनी उठाई है। जो ऋषि के 'वेदार्थ' मन्त्रद्रष्टा ऋषिस्वरूप में) होकर प्रत्यक्ष किये हुये हैं, उन वेदार्थों का खण्डन करना ऋषि के ऋषित्व पर आघात करना है। आपकी यह सब कुछ कार्य्यवाही साम्यिक स्वातन्त्र्य में मस्तिष्क ने आश्रय लेकर दिखलाई कि हम भी मास्तिष्की दास्यता क्यों किसी की करें। इन्हीं कारणों से आप ऋषि को कभी अपने लेखों में ऋषि नहीं लिखते 'आचार्य' शब्द का प्रयोग आप उनके लिये किया करते हैं यथा सायणाचार्य एवं आचार्य दयानन्द॥

मैं सुना ही करता था कि आपने ऋषि दयानन्द के वेदार्थों का खण्डन किया है, जब मैंने उपनिषदों का स्वाध्याय करना

आरम्भ किया तो, ईशोपनिषद् जो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है, उस समय ऋषिभाष्य भी देखा और अकस्मात् एक महाशय से इनका 'ईशोपनिषद् का स्वाध्याय' भी मिल गया तो निश्चय हुआ कि हां, वेदार्थों का खण्डन किया है। जिन मन्त्रों में आपने विशेष खण्डन दर्शाया है वहां मुझे ऋषि के अर्थ अच्छे लगे, अब कई एक पुरुषों के आग्रह से ऋषि प्रतिपादित अर्थों के अनुमोदक व्याख्यान लिखकर समर्पित करता हूं जिन मन्त्रों के विषय में सम्प्रति लेख दिया जाता है उन के ऊपर पंडितजी ने विशेष खण्डन रूप आघात किया है अतः पूर्व में पंडितजी के लेखों की समालोचना करूंगा जो आपने ईशोपनिषद् के स्वाध्याय में खण्डन करते हुये प्रकाशित किये हैं, अतः पाठकों को ज्ञात रहे कि पंडितजी ने मंत्र संख्या वेद के अनुसार रक्खी है, उनकी समालोचना में भी संख्या वही होगी, द्वितीय यह विषय गम्भीर है जितना एकान्त और शान्त होकर पढ़ेंगे उतना ही स्पष्ट होता जावेगा, अब समालोचना से पूर्व एक वेदमन्त्र का भाव दर्शाकर आगे अपने विषय पर चलूंगा।

वह मंत्र यह है—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनो जवेष्वसमा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उत्वेहृदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे॥ ऋ० १०।७१॥

भावार्थ—सङ्कल्पात्मक नेत्रादि इन्द्रियों वाले मुक्त हों अथवा गोलकात्मक नेत्रादि इन्द्रियोंवाले बद्ध जीव हों आत्मस्वरूप में समान होते हुए भी सङ्कल्पात्मक मनोवेग (चैतन्य प्रधानावस्था) में तथा अण्वात्मक अणु+आत्मक, जड़, भौतिक मन के वेग (ज्ञानावस्था) में समान बराबर नहीं हैं। जैसे किसी जलाशय में स्नान करके कुछ एक के जल मुख तक आता है और कुछ एक के कक्षा (काख=कांख)

तक आता है ठीक वैसे ही चैतन्य प्रधान तथा ज्ञानावस्था में मुक्त और बद्ध जीव भी समान (बराबर) नहीं हैं सो ऐसा होना ही उचित है इस से कर्म का आनन्त्य होकर सृष्टि का होना यौक्तिक होगा।

जब यह है तो वेदादि शास्त्रों पर सब की व्याख्या या विचार भिन्न २ होना युक्त है चाहे ऋषि दयानन्द का हो या पं० सातवलेकर की अथवा पं० आर्यमुनि की या पं० भीम-सेन की हो या मेरे जैसे विद्यार्थी की, परन्तु ऋषि महाशयों के ज्ञान के सामने अस्मदादिकों का ज्ञान अल्पकोटि का ही होता है, यह बात दूसरी है कि हम अपना विचार भी प्रकट करें परन्तु यह भी सम्भव है कि कोई सिद्धान्त हम न समझें, प्रत्युत ऐसा विद्वानों की शैली से बाहिर है कि हम ऋषि-वाक्यों का खण्डन करें ऐसा आचार ऋषि दयानन्द तथा अन्य ऋषिगण में भी था क्योंकि सम्भव है कि हमारी बुद्धि वहां तक न पहुंची हो। अतः ऋषि-वाक्यों का विचार बारम्बार करते हुए उनके अनुकूल ही अपने विचारों को प्रकट करना चाहिये खण्डनरूप नहीं यह धार्मिकों की परिपाटी है॥

अब पं० सातवलेकरजी के अर्थों की समालोचना या विचार करते हैं, इसके पश्चात् अपने अर्थों का प्रकाश करना तथा ऋषि दयानन्द के अर्थों पर भी विचार किया जावेगा।

पं० सातवलेकरजी के अर्थों की समालोचना।

यद्यपि पंडितजी ने अपनी खोज में पुराणादि तक के प्रमाण दिये हैं, परन्तु मेरी तो शान्ति इन अर्थों से न हुई। पंडितजी की पुस्तक देखने से पूर्व जो अर्थ विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति, के मैं अपने आत्मा में स्थिर कर चुका था वही रहे, अस्तु।



अब पंडितजी के वचन निम्नलिखित हैं जिन में मैं दोष समझता हूं।

(सम्भूति, असम्भूति पृष्ठ १६ पर)

विद्या अविद्या के समान ही सम्भूति, असम्भूति में दो शब्द विवादास्पद हैं। सम्भूति का अर्थ सृष्टि और असम्भूति का अर्थ प्रकृति ऐसा समझा जाता है। परन्तु पूर्वोक्त अविद्या के अर्थ में प्रकृति और सृष्टि का सब विज्ञान आगया है। फिर यह कहना कि प्रकृति की उपासना से गिरता और सृष्टि की उपासना से तैरता है। मन्त्र ६–११ सर्वथा विरुद्ध है। ऐसा मानने से पुनरुक्ति दोष व स्वपक्ष व्याघात दोष आजायेगा इसलिये इन शब्दों के अर्थों की खोज करनी चाहिये।

समालोचना:–पूर्व विद्या अविद्या और यहां सम्भूति असम्भूति के विचार में आपने स्पष्टरूप से ऋषि दयानन्द के अर्थों का खण्डन और उन पर आक्षेप किया है। सम्भूति, असम्भूति का सृष्टि, प्रकृति अर्थ ऋषि दयानन्द ने किया है जिनकी सुसङ्गति आगे की जावेगी। यह बात दूसरी है कि आपने नाम नहीं लिया जैसे पुनरुक्ति दोष व स्वपक्ष व्याघात दोष ऋषिभाष्य का दर्शाया वैसे ही आगे चलकर आप के दोष पहिले दिखाऊं और जिनपर आप पूर्वोक्त दोष देते हैं उन पर भी दृष्टि मन्त्र-भाष्य के समय डालूंगा।

प्रथम दोष—यद्यपि आपका पक्ष इस समय दोष-दर्शक है, परन्तु आपने पक्ष स्थापना करने में ही लेख द्वारा भूल की है जिससे पक्ष दूषित है, आपके शब्द हैं–'प्रकृति की उपासना से गिरता है और सृष्टि की उपासना से तैरता है। (मन्त्र ६। ११) सर्वथा विरुद्ध है'। इसको आप भूल से उल्टा



लिख गये हैं ऐसा ९। ११ वें मन्त्र में या ऋषि के भाष्य में कहीं नहीं है।

मन्त्र ९ व ११ ये हैं:—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इवते तमो य उ संभूत्याᳬ रताः॥ ९॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयᳬ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते॥ ११॥

९ म मन्त्र में असम्भूति (प्रकृति) सम्भूति (सृष्टि) इन दोनों की पृथक् २ उपासना करने से गिरता है, यह बतलाया। ११ वें मन्त्र में दोनों को साथ २ जानकर विनाश (प्रकृति) की उपासना से तैरना और सृष्टि की उपासना से अमृत का पाना कहा है।

तथा ऋषिभाष्य में "विनाशेन नित्यस्वरूपेण विज्ञातेन कारणेन (मृत्युम्) शरीरवियोगजन्यं दुःखं (तीर्त्वा) उल्लंघ्य" ऐसा लिखा है जिस में कारण (प्रकृति) से तैरना बतलाया है, सृष्टि से नहीं। परन्तु सृष्टि से अमृत का पाना बतलाया है। पंडितजी ने प्रकृति और सृष्टि दोनों के स्थानों पर केवल 'प्रकृति से गिरता है' और प्रकृति से तैरता है इसके स्थान पर आपने 'सृष्टि से तैरता है' ऐसा लिखा है, जो मूल और भाष्य से उल्टा लिखा है, विचार से देख लेवें हाथ कंगन को आरसी क्या है।

हां, यदि ऐसा होता तो दोष न था कि जब अविद्या में सब सृष्टि और प्रकृति का ज्ञान आगया फिर मन्त्र १२ में यह कहना कि अविद्या की उपासना से गिरता है और मन्त्र ११ में कहना कि 'प्रकृति की उपासना से तैरता है और सृष्टि की

उपासना से अमृत को पाता है' यह सर्वथा विरुद्ध है, पुनरुक्तिदोष व स्वपक्ष व्याघात दोष है।

(उत्तर) अविद्या के अर्थ में प्रकृति और सृष्टि का विज्ञान आजाना यह आपके मत में है; हमारे मत में नहीं, हम अपना मत अपने भाष्य में दर्शावेंगे। इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं बन पड़ता है।

द्वितीय दोषः—सम्भूति का अर्थ आपने संयोगशक्ति और असम्भूति का अर्थ वियोगशक्ति किया है जब आपके मत में प्रकृति और सृष्टि का सब विज्ञान अविद्या में आजाता है तो संयोगशक्ति और वियोगशक्ति भी सृष्टि और प्रकृति के सब विज्ञान में आगई, फिर १२ वें मन्त्र में यह कहना कि अविद्या से गिरता है और वियोगशक्ति जो पूर्वोक्त अविद्या का अंश है उससे तैरता है और संयोगशक्ति तथैव अविद्या के अंश से अमृत को पाता है मंत्र ११ में कहना सर्वथा विरुद्ध होने से पुनरुक्ति दोष तथा स्वपक्षव्याघात दोष है।

संयोगशक्ति और वियोगशक्ति को आपने अपने वचनों में भी सृष्टिविद्या (अविद्या) दर्शाया है आपके वचन पृष्ठ १५६ पर सृष्टिविद्या की व्याख्या करते हुए लिखे हैं (सृष्टिविद्या से विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का ज्ञान होता है। संयोग वियोग शक्तियों के कार्य्य नित्य चलते हैं ऐसा विदित होने से तथा इनका नित्य चलना ही अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा पता लगने से लय मृत्यु की भीति दूर होती है) जब आपने सृष्टिविद्या में संयोग वियोग शक्तियों की व्याख्या कर दी और उनके विदित होने (ज्ञान) से फल भी एक लय, मृत्यु की भीति दूर होना कथन किया जो अविद्या का फल है तो



फिर यह कहना कि वियोगशक्ति से मृत्यु को तैरता है संयोग-शक्ति से अमृत को पाता है, यह सर्वथा असम्भव है।

तृतीय दोषः—पृष्ठ १७ पर आपने लिखा है अविद्या से निष्काम कर्मों का ग्रहण नहीं हो सक्ता है क्योंकि निष्काम कर्मों से बंधन टूटता है और मनुष्य निर्लेप होता है ऐसा वर्णन दूसरे मन्त्र में आया है; निष्काम कर्म उच्चकोटि के हैं, परन्तु अविद्या के उपासक घने अन्धेरे में प्रविष्ट होते हैं ऐसा वर्णन उपनिषद् में (मन्त्र १२ में) आया है।

समालोचनाः—उसही (मन्त्र १२) में विद्या के उपासक भी अधिकतर घने अन्धेरे में प्रविष्ट होते हैं ऐसा भी वर्णन है तो जिस मन्त्र १२ हेतु से निष्काम कर्म अविद्या का अर्थ नहीं होसक्ता ऐसा तो यह कहना हेत्वाभास होकर निष्काम कर्म विद्या के अर्थों में पृष्ठ १५ पर आपका लिखना व्याघातदोष होगया है। क्योंकि इस ही मन्त्र १२ के हेतु से यह विद्या का अर्थ भी नहीं हो सकता।

चतुर्थ दोषः—पृष्ठ १७ पंक्ति १० में लिखते हैं, अविद्या के अर्थों में सकाम कर्म इसलिये नहीं ले सकते कि वे मृत्यु से तैरने वाले नहीं है।

समालोचना—पृष्ठ १५ पर सकामता को अविद्या के अर्थों में लेलिया है यह अनृतवचन दोष है।

पंचम दोष—पृष्ठ १५१ पर १२ वें मन्त्र का अर्थ करते हुए आप लिखते हैं कि जो अविद्या सृष्टि विज्ञान की उपासना करते हैं वे घने अंधेरे में प्रविष्ट होते हैं। तथा वे उससे भी अधिक अन्धकार में जाते हैं कि जो आत्मज्ञान में रमते हैं।

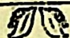
इस मन्त्र में अविद्या के उपासक और विद्या में रत ये दोनों पयनत होते हैं ऐसा कहा है।

यहां का रत शब्द जैसा का वैसा गीता में आया है 'वेदवादरताः'।

(गीता २ । ४२) वेद के वाद विवाद में रमने वाले वेद के शास्त्रार्थ करने में प्रवीण मन्त्रों के शब्दज्ञान में ही डूबे हुये जो होते हैं वे गिरते हैं, गीता का यह आशय यहां इस मन्त्र में अभीष्ट है। विद्या रत शब्द का अर्थ वेदवादरत अथवा वाद-रत ऐसा है यह बात हरएक जान सकता है कि आत्मज्ञान के शास्त्रार्थ करने में ही जो मस्त होते हैं परन्तु जिनके आचरण में उसका कोई भी भाव नहीं आता है वे गिरते हैं।

समालोचनाः—प्रथम तो पूर्व (विद्या) का अर्थ आत्म-ज्ञान किया और फिर उसको आचरणरहित कहा, यह पर-स्पर विरुद्ध है; क्योंकि जिस योगी को आत्मज्ञान है उसका सम्यक् आचरण भी है और जिसमें आचरण नहीं है उसको आत्मज्ञान कभी हो नहीं सकता, दूसरे (परन्तु जिन के आच-रण में कोई भी भाव नहीं वे गिरते हैं) आप ऐसा कहते हैं जब कि यह बात है तो (मन्त्र १४ में) जहां विद्या, अविद्या की संगति करके मृत्यु को तरना आचरण की कमी न गिरा-येगी, इसकी पूर्ति किसने की जब कि आपने अविद्या का अर्थ सृष्टिविद्या का किया है, यदि इसका अर्थ कर्म होता तब तो आचरण की कमी पूरी होजाती तीसरा और कोई शब्द यहां है ही नहीं जिससे उसकी पूर्त्ति हो।

षष्ठ दोषः—आपने पृष्ठ १४ पर विद्या के अर्थों में श्रेय और अविद्या के अर्थों में प्रेय अपनी कल्पना से रक्खे हैं जो अयुक्त हैं।

१२ वें मन्त्र में विद्या अविद्या का पार्थक्य है जो कि पृथक् २ सेवन करने से अंधतम में प्रविष्ट होना (गिरना) बतलाया है।

जहां पर ये श्रेय, प्रेय शब्द कठोपनिषद् में आये हैं वहां वहां श्रेय का पृथक् सेवन करना श्रेष्ठ बतलाया है, वे वचन ये हैं (अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते। श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद वृणीते ॥ कठवल्ली २। १२।

प्रथम मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि श्रेय और प्रेय में से जो श्रेय ग्रहण करता है तथा द्वितीय मन्त्र में भी कहा है कि धीर पुरुष प्रेय से अलग जो श्रेय है उसको स्वीकार करता है, इन मन्त्रों में स्पष्ट अकेले श्रेय के सेवन करने वाले को अच्छा फल बतलाया है, आप उसका विद्या के अर्थों में रख-कर १२ वें मन्त्र की नीचगति रूप फल में डालते हैं जो प्रेय के सेवन से भी अधिक नीचगति है। हमारे मत में तो श्रेय का अर्थ चारों विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति की संगति का नाम है जिसको हम आगे चलकर अपने अर्थों में स्पष्ट करेंगे।

सप्तम दोषः—(६ व मन्त्र में) पृष्ठ १३६ पर आप लिखते हैं कि जो (असम्भूति) वियोग-भावना की उपासना करते हैं वे घने अंधेरे में प्रविष्ट होते हैं जो (सम्भूत्याम्) संयोग-भावना में ही रमते हैं वे उससे अधिक अन्धेरे में जाते हैं।

समालोचना—विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

इस १४ वें मन्त्र में विद्या और अविद्या दोनों की संगति (मेल) रूप को जानना मन्त्र में इष्ट है जिसका फल मृत्यु से तैरना और अमृत को पाना है, इस मन्त्र में विद्या अविद्या की संगति (मेल) संयोगभावना है जो कि आपके संभूति का अर्थ संयोगभावना मन्त्र ९ में कर देने से घने अंधेरे में प्रविष्ट ही हो जाना है, यह एक बड़ा दोष है जो वेद में अनृत-वचन या व्याघातदोष होवे, इसलिये इनका अर्थ ऐसा नहीं है संभूति आदि की विशेष समालोचना अपने अर्थ करते हुए आगे करेंगे, वस्तुतः आपने अर्थ नहीं किये ये तो अनर्थ हैं।





दयानन्द के ऋषित्व पर आघात का प्रत्याख्यान

(संख्या २)

मन्त्र भाग—इससे पूर्व पं० सातवलेकरजी के ईशोपनिषद् के स्वाध्याय में लिखित वचनों की समालोचना की गई थी जिसमें संक्षिप्त भावना से सात दोष दिखलाये थे, अब मन्त्रों की व्याख्या की जाती है कि जिनका सङ्केत पूर्व लेख में कर चुका हूं तथा ऋषि दयानन्द के अर्थों का दर्शन कराया जावेगा।

व्याख्या से पूर्व विद्या अविद्या के आर्ष अर्थों को सप्रमाण आर्य-जनता के सन्मुख रखता हूं:—

(१) विद्या, (२) ज्ञान ये दोनों अर्थ पर्याय शैली में लोकप्रसिद्ध हैं। (३) स्वाध्याय, व्यासमुनि। (४) वैराग्य, पातञ्जल योग। (५) श्रद्धा, मुण्डकोपनिषद् अन्तिम तीन अर्थों के प्रमाण व्याख्या के समय विस्तृत रूप में रक्खे जावेंगे।

(१) अविद्या, (२) अज्ञान, ये दोनों पर्याय में लोकप्रसिद्ध हैं जिनको विद्या-भाव और ज्ञानाभाव भी कहते हैं। परन्तु यहां कुछ निश्चिति के लिये विचार करते हैं:—

(प्रश्न) अज्ञान किसको कहते हैं?

(उत्तर) ज्ञानाभाव दशा का नाम है।

(प्रश्न) वह कोई दशा होती है अथवा शून्यतामात्र को कहते हैं?

(उत्तर) हां एक दशा होती है शून्यता नहीं, क्योंकि जब जीव में शरीर धारण करते हुये जीवलिङ्गों=व्यापारों की शून्यता हो जावेगी तो उसका वियोग (मृत्यु) हो जावेगा।

(प्रश्न) तो फिर क्या ज्ञान से शून्य कर्म करता होगा?

(उत्तर) हां कर्म तो करता है, परन्तु ज्ञानशून्य कर्म होने से निन्दित कर्म, जिनका फल अच्छा नहीं है ऐसे अन्धाधुन्ध कर्म करता है।

इस अज्ञान शब्द की यौक्तिक प्रश्नोत्तर द्वारा पर्यालोचना करने से कर्म अर्थ निकलता है, अतः पूर्व संख्या (२) अज्ञान का अर्थ कर्म हुआ।

(३) दूरमेतेविपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनन्नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्तः ॥कठो० व० २। मं० ४॥

इस मन्त्र में (कामाः = विषये) अविद्या के अर्थ में लिये गये हैं जो इससे पूर्व (ये ये कामाः दुर्लभामर्त्यलोके सर्वान् कामाछंश्छन्दतः प्रार्थयस्व०) में वर्णित किये गये हैं।

(४) यागादि कर्म, अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभि मन्यन्ते बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ मुण्डको० प्रथममुण्डक व० २। मं० ६॥

अविद्या में वर्त्तते हुए का विशेषण मंत्र में कर्म करने वाले का दिया है, इससे स्पष्ट है कि कर्म अविद्या का वाचक है।

(५) दुष्ट ज्ञान, तद्दुष्टज्ञानम् ॥ वैशेषिक अ० ९। आ० २। सू० ११॥

(६) अनित्यादि पदार्थों में नित्यादि की बुद्धि, अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ यो० साधनपाद सू० ५ ॥

(७) प्रयत्न, नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः ॥ महाभाष्य व्याकरण ३ । ११ ॥

पूर्व विद्या का अर्थ ज्ञान है, अविद्या के अर्थ में महाभाष्यकार कहता है 'नञ् = अ, इव' इन दोनों से युक्त जो शब्द है उसका अर्थ उस शब्द से भिन्न और उसके समान का अर्थ देता है जिसके साथ लगे हुये होते हैं यही अर्थों का निश्चय है। जैसे (अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृश आनीयते न लोष्ठमानीय कृती भवति) महाभाष्य में ही उदाहरण आता है—अब्राह्मण को लाओ। ऐसा कहने पर ब्राह्मणसदृश क्षत्रिय आदि लाया जाता है, न कि मिट्टी के ढेले को लाने से काम चलता है, इसही प्रकार विद्या (ज्ञान) आत्मा का लिंग है वैसे ही अविद्या का ज्ञान से भिन्न किसी आत्मा के लिंग का बोध होना चाहिये। एवं प्रयत्न इसका अर्थ हुआ जो कि आत्मा का एक लिंग है तथा ज्ञान-उन्नति का साधन स्थूलाकार रहित है। एवं प्रयत्न भी है ॥

इस महाभाष्यकार के तद्भिन्नता और तत्सदृशता रूप प्रमाण वचन से 'प्रयत्न' अविद्या का अर्थ सिद्ध हुआ। जिसके पर्याय—(८) पुरुषार्थ (९) कर्म होते हैं (१०) सृष्टिविद्या पं० सातवलेकरजी का लापन है।

अब दोनों विद्या अविद्याओं को केवल अर्थों में संगृहीत करते हैं:—

(१) विद्या, प्रसिद्ध	(१) अविद्या, प्रसिद्ध
(२) ज्ञान	(२) अज्ञान = 'कर्म' यौगिक प्रश्नोत्तर द्वारा
*	
(३) स्वाध्याय, व्यासमुनि	(३) कामाः = 'विषये' कठोपनिषद्
*	
(४) वैराग्य, पातञ्जल योग	(४) यागादि कर्म मुण्डकोपनिषद्
*	
(५) श्रद्धा, मुण्डकोपनिषद्	(५) प्रयत्न = 'पुरुषार्थ कर्म' महाभाष्य व्याकरण
*	
ये पांच पर्यायार्थ हैं जिसमें	(६) दुष्टज्ञान वैशेषिक
विरोध पारस्परिक नहीं है।	(७) अनित्यादि में नित्यादि बुद्धि योगदर्शन
*	
*	(८) सृष्टिविद्या पं० सातवलेकरजी करते हैं,
*	
*	(यह अर्थ अप्रामाणिक ही रहेगा अनृषिवचन होने से)।
*	

विद्या के अर्थों में कोई विवाद नहीं है, परन्तु अविद्या के अर्थ भिन्न भिन्न होने से किसको स्वीकार करें, इस बात पर विचार करते हैं, पूर्वोक्त सात प्रामाणिक अर्थों में कर्म अविद्या का अर्थ तीन प्रमाणों में आया, यदि बहुसम्मति न्याय से देखें तो अविद्या का अर्थ 'कर्म' करना पड़ता है।

द्वितीय वेदार्थ करने के लिये वेद के अङ्गोपांगों की मुख्यता समझी जाती है उसमें भी अङ्ग और उपाङ्ग में अङ्गों की व्यवस्था प्रधान मानी जायगी, अङ्गों में भी व्याकरण की व्यवस्था वेदार्थ करने में प्रधान है, क्योंकि महाभाष्य का वचन है कि (षडङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो



यतः फलवान् भवति) प्रधानता सिद्ध होजाने पर (प्रधाना-प्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्ययः) प्रधान और अप्रधान के प्रसंग में प्रधान में कार्य्य किया जाता है, इसलिये हमें महाभाष्य व्याकरण की व्यवस्था अर्थात् अविद्या का अर्थ जो कर्म सिद्ध हुआ है वह वलवत्तम होने से वेदार्थ के लिये अविद्या का अर्थ कर्म मानना पड़ेगा इस न्याय से तथा अन्यत्र भी विद्या का सहयोगी कर्म वर्णन किया है। यथा:—

विद्याकर्मणी समन्वारभेत पूर्वप्रज्ञा च ॥

(बृहदारण्यकोपनिषद ४ । ४ ।)

किसी एक समय मुझ को इनके अर्थों की प्रतीति अर्थात् ज्ञान और कर्म की महिमा पर ध्यान देते हुए इस मन्त्र समुदाय का बोध हुआ, जिनकी विशेष सङ्गति मैं इससे पूर्व न लगा सकता था। यद्यपि याथातथ्यरूप से मन्त्रार्थ का स्वरूप पाठकजन के सन्मुख मैं वह नहीं रख सकता कि जो विचार के समय स्वरूप अनुभव हुआ है, इस बात को विरले ही जानते हैं या जो जानते हैं सो ही जानते हैं। सब से पूर्व ज्ञान-कर्म की महिमा पर ध्यान देते हुए यह मन्त्र सामने आया—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(मं० १४ । उपनि० स० ११)

इस पर प्रथम विचार—इस मन्त्र में विद्या अविद्या को सङ्गति (मेल) रूप से जानने का विधान और फलश्रुति है, जो प्रत्यक्ष बोधन कराता है कि पूर्व बारहवें (१२) मन्त्र में विद्या, अविद्या का पार्थक्य है अर्थात् अविद्या (कर्म) विद्या से



शून्य तथा विद्या (ज्ञान) अविद्या (कर्म) से शून्य है, जिन के सेवन से अन्धतम रूप क्लेश को प्राप्त होते हैं।

(प्रश्न) क्योंजी जब कि विद्या और अविद्या पृथक् २ सेवन करने से दोनों दुःख का कारण हैं तो फिर उनका मेल कैसे मृत्यु से तराता और अमृत को प्राप्त कराता है, हम तो समझते हैं कि और भी अधिक दुःख में डालेंगे, क्योंकि जिस के अवयव में जो मात्रा होती है वह मेल में बढ़ जाती है और जो अवयव में नहीं होती तो उनके मेल में भी नहीं होती। जैसे एक तिल में कुछ तैलमात्रा होती है तो दोनों में उससे अधिक होगी, तथा रेत के कण में तैलमात्रा नहीं है तो दोनों कणों में भी नहीं है। एवं इस न्याय से पूर्वोक्त अन्धतम का दूर होना और इस मंत्रोक्त मृत्यु से पार होकर अमृत का पाना नहीं हो सका है।

(उत्तर) नहीं, यह बात नहीं है, क्योंकि तुम्हारा न्याय सामानाधिकरण्य है यहां वैयधिकरण्य का न्याय नष्टाश्वरथ-वत् का है, जैसे देवदत्त का घोड़ा नष्ट होगया और यज्ञदत्त का रथ नष्ट होगया, तब देवदत्त यज्ञदत्त से कहता है कि मित्र! मेरे घोड़ा नहीं रहा, रथ है और तुम्हारे रथ नहीं रहा, घोड़ा है, इन दोनों का मेल करदो क्योंकि दोनों के पृथक् २ होने से जो हमको और तुमको क्लेश होरहा है अर्थात् मेरे खड़े हुए रथ को कीट तथा लोह-मल (जंग) लगा जाता है और सूद की हानि है और तुम्हारे घोड़े को आलस्य, इतस्ततः परिभ्रमण न होने से एक स्थान पर खड़े रहने से रोग लगा जाता है और सूद की हानि तथा तुम्हें तो चारे, दाने की भी हानि है। इस-लिये दोनों के पार्थक्य से हम तुमको यह क्लेश होरहे हैं वे दूर होंगे तथा मेल से माल का मूल्य बढ़ेगा और आय होगी, ठीक



यह न्याय यहां पर एक और एक, ग्यारह में परिणत होकर काम करजाता है।

द्वितीय विचार—इस ही मन्त्र में विद्या, अविद्या मेलरूप से पूर्वार्द्ध में आचुकी है, और फल दर्शाते हुए पुनर्वचन विद्या, अविद्या का किया है, यह पुनरुक्ति किसलिये फल दर्शाने में की (आम खाने से मतलब, पेड़ गणना किसलिये) एवं परमात्मदेव आचार्य की शैली स्पष्ट जता रही है कि वस्तुतः अविद्या (कर्म) विद्या (ज्ञान) का वास्तविक स्वरूप इसी मन्त्र में है, वस्तुगत्या उनके सत्यस्वरूप के फल भी ये हैं। यदि विद्या, अविद्या का लक्षण कहीं वेदोक्त रीति से करना हो तो इस ही मन्त्र से करना क्योंकि शुद्ध वैदिक लक्षण यह ही है।

अस्तु, इस ही कारण ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में वैदिक विद्या, अविद्या का लक्षण करने में इस ही मन्त्र का आश्रय लेते हैं, क्योंकि इस मन्त्र ने बतलाया कि विद्या (ज्ञान) अविद्या (कर्म) का वास्तविक स्वरूप इन दोनों के परस्पर की संगति से है अर्थात् ज्ञान के मेल से कर्म अपने स्वरूप में स्थित होता है और कर्म के मेल से ज्ञान अपने स्वरूप में स्थित होता है अन्यथा केवलता में आभासमात्र होगा।

तृतीय विचार—इस मन्त्र में अविद्या से मृत्यु को तरना और विद्या से अमृत को पाना फलरूप वचन हमें स्पष्ट जनाता है कि इस मन्त्र में विद्या जो ज्ञान है वह अध्यात्मज्ञान या आन्तरिक ज्ञान अथवा ज्ञानयोग शब्दों से वर्णन होनेवाला ज्ञान है। एवं अविद्या (कर्म) अध्यात्मकर्म

था आन्तरिक कर्म अथवा कर्मयोग शब्दों से वर्णन होने वाला कर्म है। बस इस मन्त्र में अध्यात्मज्ञान, आन्तरिकज्ञान, ज्ञानयोग—अध्यात्म कर्म, आन्तरिककर्म, कर्मयोग है॥

अब इन पूर्वोक्त शब्दों से इस मन्त्र में अभीष्ट विद्या, अविद्या के अर्थ ये निकले कि कर्मयोग सान्निधिक, ब्रह्मस्वरूपक ज्ञान (विद्या) तथा ज्ञानयोग सान्निधिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अष्टांग योगानुष्ठान (अविद्या) ही पूर्वोक्त युक्तियों और विचारों से निश्चित है। अब इस मंत्र का सीधा अर्थ यह है:—ज्ञानयोग और कर्मयोग को जो कोई संगति (मेल) करके जानता है वह पुरुष कर्मयोग (चित्तवृत्तिनिरोधरूप) से मृत्यु, जन्म, मरणप्रबन्ध को तर जाता है। ज्ञानयोग (परवैराग्य) से अमृत ब्रह्म तथा मोक्ष को पाता है। ऐसा ही व्यास-भाष्य में लिखा है:-

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

भावार्थः—(स्वाध्याय) ज्ञानयोग से (योग) कर्मयोग को सेवे और कर्मयोग से ज्ञानयोग को सेवे। ज्ञानयोग और कर्मयोग के इतरेतराश्रय से जो सङ्गति मेल होगा उससे परमात्मा प्रकाशित होता है।

ऐसे ही पतञ्जलि मुनि भी कहते हैं कि:—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ समाधि०। सू० १२॥

भावार्थः—(अभ्यास) अष्टाङ्गयोग रूप प्रयत्न अर्थात् कर्मयोग (वैराग्य) ज्ञानयोग 'ज्ञानस्य परा काष्ठा वैराग्यम्'

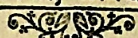
यह व्यास वचन है। ज्ञान की अत्यन्तोन्नति का नाम वैराग्य है, परवैराग्य के अर्थों में ऐसा वर्णन किया है, इन दोनों से चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है यहां ज्ञानयोग और कर्म योग के मेल से ही चित्तवृत्ति निरोध कथन है, अर्थात् चित्तवृत्ति निरुद्ध होजाने पर संसारातीत होजाना तथा जीवात्मा निराधार नहीं रह सक्ता इससे निरुद्ध अवस्था में परमात्मा के आधार पर रहेगा ब्रह्मज्ञान परवैराग्य से ब्रह्मदर्शन तथा मोक्ष होगा, अन्यत्र मुण्डकोपनिषद् में भी यह भाव दर्शाया है यज्ञादि इष्ट कर्मों की तुच्छता दिखलाते हुए:—

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षाचर्य्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ मु० १। खण्ड २। मं० ११॥

भावार्थः—(तप) कर्म योग 'तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः' महाभाष्य व्याकरण। कर्म और गुण से जो हीन है वह जातिब्राह्मण ही है, जहां पर महाभाष्यकार ने कर्म का पर्य्याय तप शब्द रक्खा है अतः हमने (तपः) का अर्थ कर्म किया (श्रद्धा) ज्ञानयोग, श्रद्धाशब्द निघण्टु अध्याय ५। खण्ड ३ में पदनाम तथा अध्याय ३। खण्ड १० में सत्य-नाम ये दो अर्थ हैं, जो दोनों विद्या में घट सक्ते हैं (श्रत्+धा+अङ्+सु) आतश्चोपसर्गे। अष्टाध्यायी अ० ३। पाद ३। सू० १०६॥ श्रच्छन्दस्योपसंख्यानम्। वार्तिकसूत्र। १।४। ५८ पर॥

श्रत् 'सत्यं धीयते धार्य्यते चीयतेऽनयेति सा श्रद्धा' (विद्या) ज्ञानयोग अर्थात् सत्य का चयन जिसके द्वारा करते हैं





वह विद्या ज्ञानयोग कहलाता है। यह औपनिषद शब्द हैं, वस्तुतः इनके अर्थ ये ही होते हैं, अतः भावार्थ हुआ कि ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दोनों को जो ही अपने जीवन में ढालते हैं जङ्गल में रहते हुए ऐसे सन्त शान्त, विद्वान् भिक्षान्न सेवन करते हुए अर्थात् भोजन में अलिप्त होते हुए विरक्त सूर्य्य द्वारा जाते हैं जहां अमृत पुरुष एकरस आत्मा है। अब इस मन्त्र का अर्थ स्फुट हुआ कि ज्ञानयोग और कर्मयोग की संगति से इष्टसिद्धि होती है, अन्यथा नहीं॥

एवं ऋषि दयानन्द के अर्थ '(अविद्यया) शरीरादिजडेन पदार्थसमूहेन कृतेन पुरुषार्थेन (मृत्युम्) मरणदुःखभयम् (तीर्त्वा) उल्लङ्घ्य (विद्यया) आत्मशुद्धान्तःकरणसंयोग-जनितेन यथार्थदर्शनेन (अमृतम्) नाशरहितं स्वस्वरूपं पर-त्मानम् वा (अश्नुते)' ये अर्थ वेदभाष्य में इस मन्त्र पर हैं जो अविद्या के अर्थ ऋषि के शब्दों से यागादि कर्म इष्ट नहीं हैं, किन्तु स्वकीय साधनों से (पुरुषार्थ) अभीष्ट है, अतः पुरुषार्थ = प्रयत्न = कर्मयोग समझना चाहिये तथा 'विद्या' के अर्थ भी स्पष्ट ज्ञानयोग की ओर ही जारहे हैं। सत्यार्थ-प्रकाश में भी (अविद्या) अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके (विद्या) अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है यह अर्थ इस १४ वें मन्त्र पर किये हुए ऋषि के इस प्रकार संगत होते हैं। पण्डितजी अपने पुस्तक में पृष्ठ १६, १७ पर कर्म का खण्डन किया है वह अयुक्त है। जैसे कुछ शब्द उनके निम्नलिखित हैं:—

'अविद्या' शब्द का कर्म अर्थ है ऐसा कई लोक कहते हैं। एक तो अविद्या का साक्षात् अर्थ कर्म कहीं भी नहीं है,

लक्षणा से मानना पड़ता है, क्षणमात्र अविद्या का अर्थ कर्म है ऐसा मान लिया जावे तो भी कार्य नहीं होता।

चतुर्थ विचार—इस मन्त्र में फलश्रुति से विद्या, अविद्या का वास्तविक स्वरूप ज्ञानयोग और कर्मयोग हुआ है यह अर्थ कर्म और ज्ञान की संगति से है बिना संगति (मेल) के वेदक्रम १२ वें मन्त्र में आभासरूप ज्ञान और कर्म का स्वरूप है अर्थात् 'ज्ञानशून्य कर्म = कर्माभास' और 'कर्मशून्य ज्ञान = ज्ञानाभास' रूप अर्थ है। एवं उभय संगति के मन्त्र १४ में ज्ञान और कर्म आन्तरिक स्वरूप में हैं और १२ वें मन्त्र में कर्म और ज्ञान बाह्यस्वरूप में हैं, तथैव सम्भूति, असम्भूति का स्वरूप भी आन्तरिक और बाह्य होना उचित है, सो इस ही प्रकार ऋषि दयानन्द के भाष्य में वर्णित होने से मेरी श्रद्धा उनमें बढ़ गई और ऋषि के ऋषित्व का निश्चय हुआ। अब मन्त्र १२ का अर्थ करते हैं—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥१२॥

(वेदक्रम मं० १२)

भावार्थ-दुःखरूप घने अन्धेरे को प्राप्त होते हैं जो अविद्या को सेवन करते हैं, तथा उससे भी अधिक घने अंधेरे को प्राप्त होते हैं जो तो विद्या में रत हैं॥

पञ्चम विचार-अविद्या (कर्म) विद्या (ज्ञान) के परस्पर पार्थक्य से जो फलश्रुति उत्तरार्द्ध में है वह जनाती है कि अविद्या से भी नीचकोटि का पदार्थ विद्या है, क्योंकि उसका फल अधिक घने अन्धेरे में गिरना कहा है, अब इस मन्त्र में अविद्या और विद्या का क्या स्वरूप है उसको दर्शाते हैं॥

इस मन्त्र में इष्टापूर्त तथा दर्शपौर्णमासादि यागरूप कर्म तो सर्वथा इष्ट नहीं हैं, क्योंकि मनु ने कहा है कि—

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ समन्विताः ।
सर्वे ते जप-यज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्य्यादन्यन्नवा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
(मनु० अ० २ । श्लो० ८६, ८७)

भावार्थः—जो चार पाक यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञ में से ब्रह्मयज्ञ को छोड़कर शेष हवनादि साथ विधियज्ञ = दर्शपौर्णमासादि के सब, जपयज्ञ ब्रह्मदर्शन रूप अवस्था के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं ॥ ८६ ॥

जप्य ब्रह्मदर्शन से ही तो मोक्षप्राप्ति–योग्य ब्राह्मण होता है यह संशयरहित सिद्धान्त है, जप यज्ञ से अन्य पूर्वोक्त यागादि कर्म करे या न करे ब्रह्म का मित्र ब्राह्मण कहाता है ॥ ८७ ॥

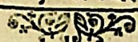
यह ही भाव कुल्लूकभट्ट भी दर्शाते हैं:—

इस उपस्थित वेदमन्त्र में जो अविद्या (कर्म) है वह यागादि कर्मों का पूर्वोक्त ग्राहक नहीं होसका है, क्योंकि वेद-मंत्र में कर्म का अभाव करदेने पर महाक्लेश को प्राप्त होना कहा है, परन्तु मनु में यागादि कर्मों की तुच्छता इतनी दिखलाई है कि यागादि कर्म करे या न करे तो भी ब्रह्मदर्शन रूप अवस्था तथा मोक्ष का प्राप्त करने वाला ब्राह्मण होता है । अतः यागादि कर्म इस (अविद्या) के अर्थ में नहीं आसक्ता । अब रहा यह कि ज्ञानरहित (अविद्या) कर्म का स्वरूप क्या है, इसका परीक्षण करते हैं:—

अब जो लोग अविद्या का अर्थ सृष्टिविद्या करते हैं वे यहां दृष्टि डालें:—

जबकि विद्या का अर्थ आत्मज्ञान है तो उसके अभाव में जो अवस्था है वह अविद्या है, क्योंकि यहां पर दोनों का पार्थक्य है, अब जिस पुरुष को आत्मज्ञान नहीं अर्थात् यह ज्ञात नहीं कि अमुक २ लक्षण युक्त इस सृष्टि का बनाने वाला है तो फिर उस पुरुष की क्या दशा है, बस उस समय वह यह ही समझे बैठा होगा कि ये पृथिवी सूर्य्य आदि पदार्थ सदा ऐसे ही (नित्य) चले आते हैं। क्या इस ही का नाम 'सृष्टि-विद्या' है कि 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः = अतद् में तद् बुद्धि, अनित्य पृथिवी सूर्य्य आदि में नित्य बुद्धि हो, नहीं ऐसा नहीं, सृष्टि-विद्या तो जब ही समझी जाती है कि संसार के पदार्थ जैसे हों उनका वैसा ही ज्ञान होना। बस अविद्या का अर्थ सृष्टि विद्या, करना यह पं० सातवलेकरजी का मिथ्या लापन है। अतः इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मज्ञानरहित जो कर्म की दशा अर्थात् जो योग में 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' वर्णित है, यह ही इस मन्त्र में इष्ट है, ऋषि दयानन्द ने अपने ऋषित्व से जो यह ही अर्थ किया है वह पूर्ण रूप से संगत होता है और पण्डितजी का अपने पुस्तक के पृष्ठ १६ पर इस योगसूत्र का खण्डन करना निःस्सार है जिनके संक्षिप्त शब्द ये हैं:—

अविद्या से मिथ्याज्ञान ले सकते हैं ऐसा दूसरे कई कहते हैं। अनित्य को नित्य, अशुद्ध को शुद्ध, दुःख को सुख और अनात्म को आत्मा मानना यह भ्रांत ज्ञान, मिथ्याज्ञान और अविद्या है। श्री० पतंजलि मुनि ने अपने योगदर्शन में अविद्या का यही अर्थ दिया है, परन्तु यह अर्थ इस उपनिषद् में अभीष्ट नहीं।



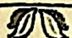
अब इस मन्त्र में (विद्या) कर्म रहित ज्ञान का अर्थ हुआ जिसको ज्ञानाभास कहना चाहिये जिसके अर्थ शब्दार्थ सम्बन्ध विज्ञानमात्र अवैदिक आचरण के ही हो सकते हैं, जो ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में इस मन्त्र पर किये हैं और पूर्णरूप से इस मन्त्र में सङ्गत होते हैं। जोकि फलश्रुति प्रामाण्य से कर्म से भी नीच कोटि का पदार्थ है।

अब इस मन्त्र का स्पष्टार्थ यह हुआ कि जो आत्मज्ञान-... होकर विचरते हैं, अन्धाधुन्ध अज्ञानरूप कर्म संसार में करते हैं वे महाक्लेश को प्राप्त होते हैं और जो प्राणायामादि अष्टाङ्ग योग अभ्यास से शून्य होकर शब्दार्थसम्बन्धरूप ज्ञान में ही डूबे रहते हैं वे पूर्व आवश्यिक पुरुषों से भी अधिक महाक्लेश को पाते हैं। क्योंकि:—

अन्यदाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे॥वेदक्रम०१३॥

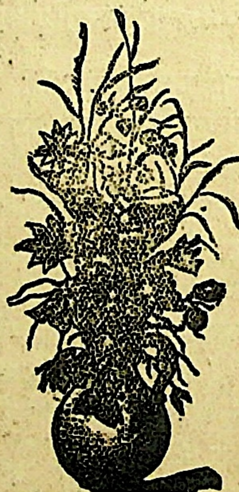
भावार्थः—विद्या का फल कुछ और है अविद्या का फल कुछ और है। यह वचन हम धीर आत्मदर्शी पुरुषों का सुनते चले आये हैं॥

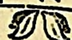
व्याख्यान:—जैसे कि दूध के दो विभाग होजाने अर्थात् अजीर्ण (फटजाने) से एक विभाग छेछड़ा (कठिनसा) पदार्थ, द्वितीय हरित वर्णसा जल मृदु पदार्थ पृथक् हुए दिखलाई पड़ते हैं, इस पार्थक्य अवस्था में छेछड़े मात्र के सेवन करनेवाले को ग्राहृयत्व (क़ब्जी) रोग होजाता है। एवं हरितवर्ण से जलमात्र के सेवन करने वाले को प्रमेह रोग हो जाता है। दोनों के पृथक् २ रूप में नित्यप्रति का सेवन करने वाला जो है उसके जीवन को यह दोनों रोग नष्ट कर

देते हैं एवं महाक्लेश रूप फल इन दोनों के पार्थक्य में हैं। परन्तु जब इनकी सङ्गति (मेल) रूप दूध स्वरूप होता है तो उसके नित्यप्रति सेवन करने वाले को ग्राहथत्व (क़ब्जी) रोगों से छुड़ाता है और वीर्य्य को पुष्टि देता है, ठीक ऐसे ही कर्म और ज्ञान के पार्थक्य से क्लेश का होना और सङ्गति (मेल) से क्लेशनिवृत्ति और आनन्दप्राप्ति रूप फल है॥

आर्य्यजनता को इस मन्त्रभाग में ऋषि दयानन्द प्रतिपादित अर्थों की सुसङ्गति देख कर दयानन्द के ऋषित्व का निश्चय हुआ होगा और उन पर श्रद्धादृष्टि से अपने आत्मा में सत्कारास्पद देते हुए उनके ग्रन्थों से लाभ उठावेंगे॥







दयानन्द के ऋषित्व पर आघात का प्रत्याख्यान।

(संख्या ३)

उत्तर-मन्त्रों में सम्भूति असम्भूति का वर्णन होने से उनके आर्ष अर्थों का स्वरूप रखते हैं॥

(१) सम्भूति (२) सम्भव ये दोनों वैदिकशैली में पर्याय हैं जो यजुः० अ० ४० । मं० ६ । १० में (३) 'सम्' उपसर्ग'भू' धातु सत्तायाम् = सम्भू + क्तिन् (स्त्रियां क्तिन्) सूत्र से भाव और कर्ता भिन्न कारकों में क्तिन् प्रत्यय हुआ। जिसका अर्थ भाव में तो (मेल व्यापार) हुआ तथा कर्मकारक में मिलकर जो बनती है (सृष्टि) का बोधक हुआ यह दो धातुजयौगिक अर्थ हुए। (४) सञ्जात = उत्पन्न के अर्थ में 'संभूते' अष्टाध्यायी अ० ४ । पाद० ३ । सूत्र ८४ से हुआ यथा-मथुरायां संभूतः, सञ्जात उत्पन्नः = माथुरः, दुग्धसिन्धु आदि, पदार्थ एवं संभूति = सञ्जाति = उत्पत्ति का वाचक हुआ।

(५) अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥ मनु० अ० १ । २१ ॥

भावार्थ—सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएं विकारिणी हैं उनसे (सम्भवति) उत्पन्न होता है। एवं सम्भूति = उत्पन्न होने वाली। (सृष्टि) का अर्थ दे सकता है॥

(६) कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतोमिथः

सम्भूतिं तस्यतां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ मनु० अ० २ । १४ ॥

भावार्थ—कामवश माता पिता बालक को उत्पन्न करते हैं, उस बालक की (सम्भूति) उत्पन्न रूप सृष्टि वह समझिये जो सामान्य से योनि में होती है ॥

(७) सम्भव—यं माता पितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम् । न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्ष शतैरपि ॥ मनु० २ । २२७ ॥

भावार्थ—माता पिता जिस क्लेश को मनुष्यों के (सम्भव) स्थापन, पालन, वर्धन रूप सृष्टि में सहते हैं उसकी निष्कृति नहीं कर सक्ते हैं सैकड़ों वर्षों से भी ॥

(८) सम्भूति का अर्थ 'सृष्टि' शङ्कराचार्य्य करते हैं।

(१) असम्भूति (२) असम्भव (३) विनाश ये तीनों वैदिकशैली में पर्य्याय हैं, यजुः अ० ४० । मन्त्र ६, १०, ११ में (४) अमेल (५) असृष्टि ये दोनों पूर्वोक्त यौगिक व्युत्पत्ति से निषेध परकता में (६) असजाति=अनुत्पत्ति सम्भूते सूत्र प्रमाण से (७) मनु श्लोकों के द्वारा सम्भूति का सृष्टि अर्थ सिद्ध होजाने पर असम्भूति का अर्थ तत्सदृश तद्भिन्नता न्याय से 'प्रकृति' होता है । (८) प्रकृति स्वा० शङ्कराचार्य्य करते हैं । अब सम्भूति, असम्भूति के अर्थ सक्रम रखते हैं ॥

(१) सम्भूति } दृष्टिगोचर या ऐन्द्रियिक पदार्थलोक प्रसिद्ध-
(२) सम्भव } सृष्टि ।

(३) मेल } संगम मिलना मात्र भाव में ।
(४) सृष्टि } प्रसिद्ध मिल कर बनने वाली ।

(५) सञ्जाति } कर्मार्थ में जो उत्पन्न होती है अर्थात् सृष्टि।
(६) उत्पत्ति

(७) सृष्टि } मनु के श्लोकों द्वारा।
(८) सृष्टि } शङ्कराचार्य्य करते हैं।

(९) संयोग भावना, पं० सातवलेकरजी करते हैं, यह अर्थ अप्रामाणिक ही रहेगा अनृषि-वचन होने से।

(१) असम्भूति } सृष्टि जैसा पदार्थ अव्यक्त (प्रकृति) हुआ,
(२) असम्भव } स्थूल का अतीन्द्रिय होजाना (दार्शनिक)
(३) विनाश

(४) अमेल } मेल-स्वरूपाभाव।
(५) असृष्टि } मिलकर बनने वाली जैसा या सृष्टि जैसा पदार्थ (प्रकृति)

(६) असञ्जाति } जो उत्पन्न नहीं होती (प्रकृति)
(७) अनुत्पत्ति

(८) प्रकृति] स्वा० शङ्कराचार्य्य करते हैं।

(९) वियोग भावना, पं० सातवलेकरजी करते हैं, यह अर्थ अप्रमाणिक ही रहेगा अनृषि-वचन होने से।

पूर्वोक्त प्रामाणिक अर्थों में ६ अर्थ सृष्टि के वाचक हैं। ८वां स्वा० शङ्कराचार्य का किया हुआ अर्थ सहानुभूति करता है, बहुसम्मति न्याय से सृष्टि ही (सम्भूति) का अर्थ करना पड़ता है, एवं असम्भूति के ७ प्रामाणिक अर्थों में से ६ अर्थ प्रकृति के वाचक हैं, एवं स्वामी शङ्कराचार्य का किया हुआ अर्थ भी सहानुभूति करता है यहां भी बहुसम्मति न्याय से प्रकृति ही अर्थ हुआ।

पूर्वोक्त प्रमाणों और युक्तियों से सम्भूति का सृष्टि और असम्भूति का प्रकृति अर्थ हुआ।

कुछ आधुनिक टीकाकार जो अन्यथा व्याख्यान करते हैं उनकी संक्षिप्त समालोचना की जाती है:—

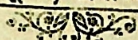
प्रथम आधुनिक—वेद कहता है कि सम्भूति साकार की उपासना करते हैं वे महाक्लेश पाते हैं और जो असम्भूति निराकार की उपासना करते हैं वे उससे भी अधिक महाक्लेश को प्राप्त होते हैं, अतः हे आर्यो! आओ हमारे मत में शुद्ध साकार की उपासना करो।

समालोचक:—जब कि सम्भूति का अर्थ साकार आपके मत में है तो यह पुस्तक भी साकार होने से सम्भूति का वाच्य हुआ। इससे असम्भूति का अर्थ साकार अतिरिक्त साकार सदृश का अर्थ होकर प्रकृति का वाचक हुआ, क्योंकि अव्यक्त होने से साकार से अतिरिक्त जड़त्व होने से सदृश हुई इससे निराकार चैतन्य ईश्वर की उपासना का निषेध नहीं हो सकता।

द्वितीय आधुनिक—सम्भूति का अर्थ संयोगभावना और असम्भूति का अर्थ वियोगभावना करते हैं। जो तात्पर्य से सर्वथा बाहिर और अनिष्टापत्ति दोष से पूरित है क्योंकि मन्त्र १४ वें में विद्या, अविद्या को संगति (मेल) रूप से सेवन करने में मृत्यु से तरना और अमृत को पाना कहा है वह सब वेदोपदेश मिथ्या दोष और अनिष्टापत्ति में आ जायगा, क्योंकि संभूति का अर्थ संयोगभावना करदेने से महाक्लेश को प्राप्त होना पड़ेगा, इसलिये कि विद्या, अविद्या की संगति (मेल) भी संयोगभावना है।

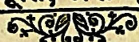
तथा मन्त्र १० वें में सम्भूति का पर्य्याय 'सम्भव' रक्खा है जो कि दृष्टिगोचर विषय (विद्यमान पदार्थ) के दर्शाने में प्रयुक्त होता है और मन्त्र १० वें में असम्भव, ११ वें में





विनाश आये हैं; जोकि इन्द्रिय गोचराभाव या विद्यमान पदार्थ के अतीन्द्रिय होजाने को कहते हैं, इन वैदिक पदार्थों से भी अनायास सृष्टि और प्रकृति के ही अर्थ होते हैं। प्रत्युत सम्भूति संयोगभावना और असम्भूति वियोगभावना अर्थ करने में वैदिक तात्पर्य नहीं है, क्योंकि संभूति व सम्भव सृष्टिसंयोग जन्य समझा है। स्मरण रहे कि विनाश और वियोगभावना परस्पर पर्य्याय किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं माना है प्रत्युत विनाश को वियोगजन्य समझा है यह वैज्ञानिक और नैयायिकों का सिद्धान्त है, अतः वैदिक तात्पर्यता से विरुद्ध अर्थ करना पं० सातवलेकरजी का मिथ्या लापन है, क्योंकि वाक्यार्थबोध में आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य ये ४ कारण हुआ करते हैं, अपरञ्च योग्यताविरुद्ध भी है, क्योंकि मन्त्र ११ वें में सम्भूति और असंभूति के मेल से मृत्यु से तरना और अमृत को पाना कहा है जोकि सम्भूति का अर्थ संयोगभावना और असम्भूति का अर्थ वियोगभावना करदेने से सर्वथा अयोग्यता आजाती है।

(१) क्योंकि एकाधिकरण (एक वस्तु) में संयोग वियोग मेल से नहीं रह सकते हैं, जब वियोग है तब संयोग नहीं और जब संयोग है तब वियोग नहीं होगा। (२) यदि समय के अन्तर से रह भी जावें तो संयोग-समय केवल संयोग होगा और वियोग-समय केवल वियोग होगा, जो कि पार्थक्यता में महाक्लेशों का प्राप्त करना रूप फल होगा। (३) यदि व्यधिकरण से भिन्न भिन्न वस्तुओं में संयोग वियोग एक ही समय में समानकर्तृस्थ (समानकर्ता) में होने से मृत्यु को तरना और अमृत को पाना हो, यथा–किसी जीवात्मा




में संसार से वियोगभावना और ब्रह्म ईश्वर से संयोगभावना होने से मृत्यु से तरना और अमृत का पाना बन पड़ता है फिर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई जीवात्मा ऐसा हो कि जिस जीवात्मा में ईश्वर से वियोगभावना और संसार से संयोगभावना हो तो वह भी मृत्यु से तर कर अमृत को पायेगा अवशेष न्याय से, जिसमें वेद के उपदेशका आनर्थक्य और पापियों को श्रेयफल की अनिष्टापत्ति होगी तथा धर्म्मा-व्यवस्था दोष है। (४) वस्तुगत्या यों तो संयोगभावना और वियोगभावना प्रतिक्षण प्रत्येक मनुष्य में सांसारिक पदार्थों द्वारा रहती ही है जिससे इस वेदमन्त्र की फलश्रुति स्थान स्थान पर मारी मारी फिरेगी। (५) वस्तुतः संयोग वियोग तो सदा पार्थक्य से ही वर्तमान रहते हैं संगमता से नहीं, एवं मेल विधि का उपदेश योग्यता से वाहिर हो जावेगा यदि व्य-धिकरण से भी संयोग वियोग मेल (सङ्गति) में समझे जावें तो फिर इनके पार्थक्य की असम्भवता होकर मन्त्र ६ में पा-र्थक्य से दुष्टफल का विधान अयुक्त हो जाता है, अतः इन पूर्वोक्त दोषों के कारण सम्भूति का अर्थ संयोगभावना और असम्भूति का अर्थ वियोगभावना करना सर्वथा मिथ्या है। अब इनका वास्तविक जो अर्थ है सो उनका स्वरूप दर्शाते हैं:—

पूर्वोक्त ४ विचारों की सङ्गति यहां सम्भूति, असम्भूति में भी होती है जो विद्या अविद्या में दिये गये हैं, तथा एक विशेष विचार यह है कि वेदक्रम मन्त्र १४ में विद्या, अविद्या साधन हैं, मृत्यु से तरने और अमृत के पाने में एवं फलश्रुति की साम्यता होने से वेदक्रम मन्त्र ११ में सम्भूति, असम्भूति उपसाधन हैं, मृत्यु से तरने और अमृत के पाने में अर्थात्

असम्भूति अविद्या का उपसाधन और सम्भूति विद्या का उपसाधन है। ठीक अब उन ही पांचों विचारों में से——

(१) पूर्ववत् प्रथम विचार द्वारा वेदक्रम मन्त्र ६ में सम्भूति, असम्भूति पार्थक्य में हैं।

(२) पूर्ववत् द्वितीय विचार द्वारा वेदक्रम मन्त्र ११ में सम्भूति, असम्भूति वास्तविक स्वरूप में और मन्त्र ६ में केवलता से आभासमात्र हैं।

(३) पूर्ववत् तृतीय विचार द्वारा मन्त्र ११ में (सम्भूति) अध्यात्म सृष्टि, आन्तरिक सृष्टि, शरीर इन्द्रियादि (असम्भूति) अध्यात्म प्रकृति, आन्तरिक प्रकृति, अनादि वासनारूप प्राकृतिक चित्तशक्ति के वाचक हैं।

(४) पूर्ववत् चतुर्थ विचार से इन दोनों को आन्तरिक और व्राह्य अर्थों के वाचक रक्खे हैं।

(५) पूर्ववत् पञ्चम विचार द्वारा मन्त्र ६ में असम्भूति से सम्भूति नीचकोटि का पदार्थ है केवलता होने से फल रूप में।

एवं वेदक्रम मन्त्र ११ में अर्थात्-

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥११॥

पूर्वोक्त तृतीय विचार से अर्थात् मृत्यु को तर कर अमृत को पाना रूप फलश्रुति से (सम्भूति) आन्तरिक सृष्टि (असम्भूति) आन्तरिक प्रकृति के मेलरूप को जो जानते हैं वे आन्तरिक प्रकृति से मृत्यु को तर कर आन्तरिक सृष्टि से अमृत को पाते हैं।

व्याख्यान—आन्तरिक प्रकृति, अध्यात्म प्रकृति, अनादि वासनारूप प्राकृतिक संकुचित चित्त शक्ति, जिसको वैशेषिक और न्याय तथा मनु 'मन' और योग 'चित्त' नाम से वर्णन करते हैं उसके यथार्थ क्रियात्मक ज्ञान से जब कि आन्तरिक सृष्टि के साथ स्वरूप दर्शन में हो तो (मृत्यु) जन्म मरण प्रबन्ध को पार कर के अर्थात् जैसे मनु कहता है कि—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणे नोभयात्मकम् ।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥

(मनु अ० २ । श्लो० ९२)

मन के जीते जाने पर दोनों इन्द्रियों के गण जीते जाते हैं। उस ही को योग चित्त नाम से कहकर चित्तवृत्तियों का निरोध प्रतिपादन करता है, जिसके यह क्रियात्मक निज अवस्था में आजाने से अध्यात्म प्रकृतिज्ञान अर्थात् चित्त की संस्कृति आवृत्ति को प्राप्त होती है चित्त में जैसा शुभाशुभ संस्कार है वह इन्द्रियों के द्वारा प्रवृत्ति में आकर सांसारिक सुख दुःख का हेतु होता है, अतः चित्त को संस्कारों से स्वकीय निरुद्ध अवस्था में लाकर (मृत्यु) संसार को तर कर जो अपने मुख्य साधन कर्मयोग के आश्रय से होता है, जिस का यह उपसाधन है। और आन्तरिक सृष्टि, अध्यात्म सृष्टि, शरीर इन्द्रियादि सङ्घात के क्रियात्मक यथार्थ दर्शन से आन्तरिक प्रकृति की सङ्गति में होने से (अमृत) मोक्ष को पाता है। अर्थात्—

आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥

इस वचन से श्रोतव्य है, शरीर इन्द्रियादि सृष्टि के द्वारा आत्मा का उपदेश ग्रहण करना (श्रवण) मोक्ष का उपसाधन है जिसका मुख्य साधन ज्ञानयोग है, फलश्रुति की सफलता होने से, अतः (सृष्टि) शरीर इन्द्रियादि मोक्ष का उपसाधन होकर उसका प्राप्त कराने वाला हुआ।

वस्तुतः इस मन्त्र में दृष्ट, आनुश्रविक रूप अपर वैराग्य का वर्णन है तदनन्तर विद्या अविद्या की संगति से सदुपयोग करके मृत्यु को तरना और अमृत को पाना फल सुनिश्चित है, इस आन्तरिक अवस्था से अतिरिक्त केवलता में बाह्यरूप या जिसको वस्तुतः आभास कहना चाहिये वह स्वरूप वेदक्रम मन्त्र ६ में है। क्योंकि उभय संगति की वास्तविक प्रकृति और सृष्टि का क्रियात्मक ज्ञान वह ही है कि मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति से इच्छानुसार जब चाहे प्रकृति की सृष्टि और सृष्टि की प्रकृति बनादे सो यह लक्षण आन्तरिक प्रकृति और सृष्टि में ही घट सकता है बाह्य प्रकृति और सृष्टि में नहीं, सामर्थ्य अभाव से; क्योंकि किसी भी मनुष्य का सामर्थ्य नहीं है कि जो वर्तमान सृष्टि को इसके नियत समय अर्थात् एक सहस्र चतुर्युगी से पूर्व प्रकृति-अवस्था में करदे, प्रत्युत सृष्टि ही संज्ञा में रहेगा, एवं लयरूप प्रकृति को अथवा परमाणुओं को सृष्टि-आकार कर देना मनुष्य की शक्ति से बाहिर है, प्रत्युत आन्तरिक प्रकृति को सृष्टि और आन्तरिक सृष्टि को प्रकृति में ले आने की शक्ति मनुष्य में है। अतः क्रियात्मक इस आन्तरिक प्रकृति और सृष्टि से मृत्यु को तरना और अमृत को पाना ऐसा अर्थ करना सर्वथा संगत होता है, जो ऋषि दयानन्द के निम्नलिखित शब्दों से प्रकट है:—

पदार्थ में:—विनाशेन नित्यस्वरूपेणाविज्ञातेन कारणेन सह।

(मृत्युम्) शरीरवियोगजन्यं दुःखम् (तीर्त्वा) उल्लंघ्य (सम्भूत्या) शरीरेन्द्रियान्तःकरणरूपयोत्पन्नया कार्य्यरूपया धर्मे प्रवर्तयित्र्या सृष्ट्या (अमृतम्) मोक्षम् (अश्नुते) प्राप्नोति ॥

भावार्थ के तृतीय पंक्ति में:—स्वात्मकार्यकारणयोर्विज्ञातेन ।

भाषाभावार्थः—अपने शरीर आदि के कार्यकारण के विज्ञान से ॥

परन्तु पण्डितजी का पृष्ठ १९ पर सम्भूति असम्भूति के प्रकृति और सृष्टि अर्थ का बलपूर्वक खण्डन करना अयुक्त है, देखो इस पुस्तक के पृष्ठ ४१ पर ॥

अब वेदक्रम मन्त्र ९ और औपनिषद् क्रम मन्त्र १२ वें का अर्थ करते हैं:—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ॥

भावार्थः—महाक्लेश को प्राप्त करते हैं जो केवल प्रकृति का ही सेवन करते हैं और उससे भी अधिक महाक्लेश को प्राप्त होते हैं जो केवल सृष्टि का ही सेवन करते हैं ॥

व्याख्यानः—केवल वाह्य प्रकृति का ही जो लोग सेवन करते हैं, तात्विक या योग की व्यवस्था से वे महाक्लेश को प्राप्त होते हैं तथा जो केवल (वाह्य) सृष्टि का ही सेवन करते हैं रासायनिक या भोग अवस्था से वे उससे भी अधिक महाक्लेश को प्राप्त होते हैं, क्योंकि:—

अन्यदाहुः सम्भवादन्य दाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

भावार्थः—कुछ और फल कहते हैं संयोगजन्य कार्य से तथा कुछ और फल कहते हैं कारण से, ये ही उपदेश ग्रहण करते चले आये हैं धीर पुरुषों का, जो हमको उपदेश करते थे । पूर्वोक्त इन दोनों मन्त्रों के अर्थ ऋषि दयानन्द कृत इस प्रकार सङ्गत होते हैं ॥

विशेष विज्ञप्तिः—(१) जीव के छः गुण कर्मरूप लिङ्गों की वृद्धि इन ही मन्त्रों के विचार से प्रकट होती है अर्थात् केवल सृष्टि में विचरने से दुःख और प्रकृति की सङ्गति से द्वेष होकर प्रतिमुख होता है, दुःखरूप संस्कार से तत्प्रतिकूल के लिये इच्छा करता हुआ सुख को प्राप्त होता है प्रयत्न ज्ञान को सेवन कर के ॥

(२) जब सृष्टि और प्रकृति की सङ्गति से क्रियात्मक ज्ञान होता है तब (आन्तरिक सृष्टि) शरीर इन्द्रियादि सङ्घात से ब्रह्म आत्मा का श्रवण करता है जो (अमृत) मोक्ष का उपसाधन होजाता है और आन्तरिक प्रकृति मन या चित्त से मनन करता है जो (मृत्यु) जन्म मरण प्रबन्ध के संस्कारों का लय करने में उपसाधन है, तदनन्तर अविद्या, विद्या की सङ्गति में क्रियात्मक ज्ञान होने पर आन्तरिक कर्म = कर्मयोग से निदिध्यासन करके मृत्यु से पार होता है जो मुख्य साधन है और आन्तरिक ज्ञान = ज्ञानयोग से साक्षात्कार करके (अमृत) मोक्ष को पाता है जो उसका मुख्य साधन है, निम्न औपनिषद्वचन की इस में सङ्गति होती है ।




आत्मावारे 'द्रष्टव्यः श्रोतव्यो' मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ॥

उक्त विद्या और सम्भूति फलश्रुति में समानाधिकरण्य रखते हैं और असम्भूति, अविद्या का भी फलश्रुति में सामानाधिकरण्य है। ठीक एवं (मन्तव्य, निदिध्यासितव्य) जन्ममरणप्रबन्ध लय करने के लिये और (द्रष्टव्य, श्रोतव्य) मोक्ष पाने के लिये हैं ॥

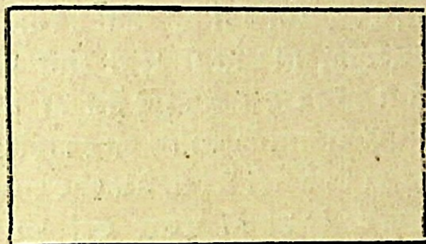
(३) (श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य, द्रष्टव्य) जैसे श्रेयः मार्ग के उपदेश हैं ठीक वैसे ही (सम्भूति, असम्भूति, विद्या, अविद्या) चारों संगति रूप से होने में श्रेयः मार्ग के उपदेश तथा बोधक हैं प्रकाशवत् और जब 'अविद्या+विद्या' से रहित (सम्भूति, असम्भूति) का जो स्वरूप है वह प्रेय मार्ग समझा जावेगा।

(१ श्रेयः चित्र)

अविद्या		असम्भूति
	मेल	
विद्या		सम्भूति

(१) विद्या+अविद्या तथा सम्भूति+असम्भूति का मेल श्रेयः है।

(२ प्रकाश चित्र)



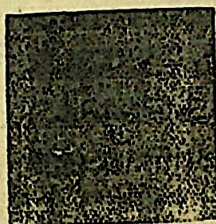
(२) तेज और अन्धकार का मेल प्रकाश है।

(३ प्रेयः चित्र)

असम्भूति

सम्भूति

(४ अन्धकार चित्र)



(३) 'विद्या+अविद्या' के अभाव में 'सम्भूति, असम्भूति' का होना मात्र प्रेयः है ॥

(४) तेज का अभाव अन्धकार है। सम्भूति, असम्भूति के अभाव में 'विद्या+अविद्या' का होना असम्भव है, अतः 'विद्या+अविद्या' मात्र को श्रेयः का वाचक नहीं कह सकते इसलिये 'सम्भूति, असम्भूति' रूप प्रेयः से पृथक् 'विद्या–अविद्या—सम्भूति—असम्भूति' श्रेयः मार्ग का सेवन करना उपनिषदों में श्रेष्ठ बतलाया, यदि विद्या+अविद्या ही 'सम्भूति, असम्भूति' की निरपेक्षता में श्रेयः का वाचक होता तो उपनिषदों का वाक्य निरर्थक होजाता, क्योंकि प्रेयः

सम्भूति, असम्भूति = सृष्टि प्रकृति के विना ही जीव को ईश्वर मुक्त कर देता, परन्तु ऐसा नहीं है अतः 'विद्या---अविद्या-सम्भूति---असम्भूति, ही श्रुति में श्रेयः मार्ग का वाचक बताया है। यथा अन्धकार के होते हुए तेज का मिल जाना प्रकाश का वाचक होजाता है, क्योंकि अन्धकार तेज से पृथक् होकर कोई दूसरा स्थान नहीं घेरता, तेज और अन्धकार का मेल प्रकाशपदवाच्य है इस ही प्रकार यहां भी समझें। कठोपनिषद् में भी यही चित्र है। आर्यजनता के सम्मुख मैंने उन मन्त्रों का स्वरूप रक्खा कि जिनमें पं० सातवलेकरजी ने ऋषि दयानन्द प्रतिपादित अर्थों को न समझ कर विशेष खण्डन किया है, अस्तु।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्व-समा बभूवुः। आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे ॥ ऋ० १०। ७१। ७॥

इस मन्त्र का फिर मुझे स्मरण आता है जिसको मैंने लेखों के उपक्रम में दिया था, जीवों के ज्ञान की दशा भिन्न २ है, किसी का ज्ञान न्यून है किसी का अधिक है। अब कुछ अन्तिम समालोचना की जाती है। कुछ एक महाशय कहते कि पं० सातवलेकरजी खोज तो वड़ी करते हैं।

समालोचक—हां मतलबसिन्धु अर्थों को पुराणों तक में से खींच लेते हैं, मैं तो इस आभिमानिक खोज को केवल तुगबन्दी ही समझता हूँ। जैसे पृष्ठ १६२ पर 'ओ३म्' का अर्थ करते हुए आपने चित्र दिया कि—

	अ	उ	म्
(१)	उत्पत्ति	स्थिति	लय

(२) ब्रह्मा	विष्णु	शिव
(३) भूः	भुवः	स्वः
(४) उत्कर्ष	वृद्धि	आनन्द
(५) प्राण	अपान	व्यान
(६) सरस्वती	लक्ष्मी	शक्ति
(७) विद्या	धन	बल
(८) ज्ञान	भोग	संयम
(९) ब्रह्मचर्य्य	गृहस्थ	संन्यास

यह त्रिक कल्पना तुकबन्दी मात्र है, इन के पर्य्याय होने में कोई आर्ष प्रमाण नहीं है, ऋषि दयानन्द ने प्रथम समुल्लास में स्पष्ट लिखा है कि 'ओ३म्' केवल परमात्मा ही का नाम है किसी दूसरे पदार्थ का नहीं। यथा– सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ६ पर ओ३म् यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है। तथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि च सर्वाणि यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ कठोपनिषद् अ० १। वल्ली २। मन्त्र १५॥

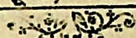
में भी कहा है कि सारे वेद जिस प्रापणीय (वस्तु) को आश्रय लेते और प्रतिपादन करते हैं तथा सम्पूर्ण धर्मानुष्ठानरूप तप जिसकी मुख्यता को ही उद्बोधन करते हैं और जिसको चाहते हुए ब्रह्मचर्य्य आदि आश्रम सेवन करते हैं वह पद तेरे लिये लाघव (थोड़े) शब्दों में कहता हूँ वह 'ओ३म्' है। इस मन्त्र में भी परमेश्वर को ही 'ओ३म्' कहा है, अन्यत्र भी "एवमोङ्कार आत्मैव" माण्डूक्योपनिषद । मं० १२॥

ओङ्कार का स्वरूप दर्शाते हुए उपनिषत्कार कहता है इस प्रकार ओङ्कार परमात्मा ही है । पूर्व प्रामाणिक वचनों से ईश्वर ही का वाचक 'ओ३म्' है, तथा योगदर्शन के "तस्य वाचक: प्रणव:" इस वचन को आश्रय लेकर व्याख्यान किया और उससे विरुद्ध तुगवन्दियां कर गये, वस्तुत: ऐसी त्रिक की तुकवन्दियां मैं अनेक कर डालता हूं। देखिये—

अ उ म्

(१) ईश्वर जीव प्रकृति (वेदों, उपनिषदों और दर्शनों में)
(२) भूत भवत् भविष्यत् (माण्डूक्योपनिषद्)
(३) ऋषि आर्य्य म्लेच्छ (न्यायदर्शन में)
(४) ज्ञान कर्म उपासना (वैदिकसिद्धान्त, वेद)
(५) ऋग यजु: साम (मनुस्मृति में)
(६) देव साध्य मनुष्य (उपनिषद में)
(७) पृथिवीस्था० अन्तरिक्षस्था० द्युस्था० (निरुक्त में)
(८) इच्छा द्वेष प्रयत्न (न्यायदर्शन में)
(९) सुख दु:ख ज्ञान (न्यायदर्शन में)
(१०) सत् रज तम (साँख्यदर्शन में)

ठीक ऐसी तुगवन्दियां और भी होसक्ती हैं; ग्रन्थों के तत् तत् स्थलों में लिखी हुई हैं, त्रिक तुगवन्दियें भी आपने ९ में से ५ त्रिक तुगवन्दियां अप्रसिद्ध स्वकीय कल्पना से की हैं जो कि संख्या (४, ५, ७, ८, ९) हैं और संख्या (६) त्रिक तुगवन्दी किसी पुराण ग्रन्थ में ही मिल सकती है, आर्ष ग्रन्थों में नहीं, प्रत्युत त्रिक तुगवन्दियां जो मैंने दश (१०) संख्याओं में रक्खी हैं वे आर्ष ग्रन्थों की हैं, जिनका सङ्केत साथ २ है



अप्रामाणिक तुगबन्दियों, स्वकीयकल्पनागतखोजों से
...ण्यों को अपना चित्त भ्रम में न डालना चाहिये ॥

आह ! धन्य ऋषि दयानन्द, आत्मश्लाघा भाव और अभिमान को कितना त्यागा है कि जब कुछ व्याख्या करता है तो कोई न कोई वेदमन्त्र या ऋषिवचन सामने रख लेता है, यहां तक कि ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्य्यन्त ऋषि महर्षि जिसको अपना मन्तव्य मानते चले आये हैं उस ही को अपना मन्तव्य बनाना, न कि कोई नवीन, ऐसे वचन उसके ग्रन्थों में उपस्थित हैं ।

वस्तुतः ये आपके अद्भुत कृत्य सामयिक स्वातन्त्र्य में वर्तमान हैं अस्तु, आर्य्य विद्वन्मण्डल तथा उपनिषदादि ग्रन्थों के स्वाध्यायशील, ऐसे भाष्यकारों की इस नवीन कल्पित ढिरङ्गी चाल को ज्ञाननेत्र से परखें और यथायोग्य प्रकाश डालते रहें सत्य के मण्डन और असत्य के खण्डन करने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये, इस ऋषिवचन को सार्थक करते रहें, ऋषि दयानन्द तथा पूर्व ऋषियों के सिद्धान्तों का अनुशीलन करें जो वेदानुकूल हैं, और दयानन्द के ऋषित्व को जानने और मानने में यत्नशील हों। तथा ऐसे भाष्यकारों से भी निवेदन है कि कोई मन्तव्य या वचन ऋषि का न समझ कर या संगति न लगने पर एक बार ही खण्डन न करें अभी और विचारें, अङ्गादि ग्रंथों को वेदार्थ करने में प्रामाणिक मानते हुये पूर्ण स्वाध्याय से लाभ उठाते हुए अपनी तय्यारी करके पुनः वेदार्थ करने को लेखनी उठावें । आभिमानिक स्वातन्त्र्य पतन का कारण है इस वचन को लक्ष्य में रक्खें, इति॥

—:o:—

इस
से

उद्बोधन और अनुष्ठान ।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

क्रमशोऽर्थः—सुवर्णवत् लुभायमान पात्र से सत्य का ढका गया है स्वरूप उसको तू हे जीव हटादे सत्य धर्म के दर्शन के लिये ॥

व्याख्यानः—इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध वेद में है उत्तरार्द्ध नहीं, अतः पूर्वार्द्ध का अर्थ उत्तरार्द्ध की सङ्गति से भिन्न होगा, क्योंकि प्रकरण में जैसे सैन्धव कहीं पर घोड़ा और कहीं पर लवण का वाचक होता है। तथा जिस प्रकार उर्दू भाषा में प्रसिद्ध है:-

साग़रे ज़रीं हो या हो मिट्टी का एक ठीकरा।
तू नज़र कर जो कुछ उसके अन्दर है भरा ॥

कवि कहता है कि सोने का पात्र हो या मिट्टी का, तू भीतर देख क्या भरा हुआ है बाहिर से निरपेक्ष होकर । ठीक ऐसे ही उपनिषद् कहती है कि विषय वासना रूप लुभायमान सृष्टि तथा इन्द्रियादि रक्षक से सत्य = नित्य पवित्र आत्मा का स्वरूप ढका हुआ है, हे जीव उसको तू पृथक् करदे चित्तवृत्ति निरोधरूप अवस्था से सत्य = नित्य पवित्र धर्म जिसका है ऐसे आत्मा के दर्शन को ॥

सङ्गतिः—श्रेयमार्ग के उपदेशानन्तर यह उद्बोधन जीव का अपनी इच्छा से है, प्रायः संसार में भी इस प्रकार उपदेशानन्तर अपने आपको सम्बोधन करके मनुष्य सम्भलते हैं,

[७८]